कृण्वन्तो ओ३म् विश्वमार्यम्

आर्योदय

हिन्दी साप्ताहिक

का

श्री घूडमल आर्य वाचनालय

ईश्वर-प्रत्यक्ष-अङ्क

१२ अगस्त १९६५ • श्रावणी संवत् २०२२

"आर्योदय" की विशेष भेंट

3 20

श्री घूडमल आर्य वाचनालय

ईश्वर-प्रत्यक्ष

(त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म असि)

सांसारिक सुख दुःख पाप पुण्य से छूट धर्माचरण द्वारा, नामस्मरण, स्तुति-प्रार्थना-उपासना, अष्टांगयोग द्वारा अभ्युदयनिःश्रेयस प्राप्ति अर्थात् साक्षात्कार का मार्गदर्शक ग्रन्थ।

★

लेखक

श्री मदनमोहन विद्यासागर

★

प्रकाशक

"आर्योदय" हिन्दी साप्ताहिक

१५ हनुमान रोड, नई दिल्ली १

सम्पादक
—रघुवीरसिंह शास्त्री
—भारतेन्द्रनाथ "साहित्यालंकार"

•

एक प्रति का मूल्य ५० पैसे

•

मुद्रक
सम्राट् प्रेस,
पहाड़ी वीरज, देहली।

श्रावणी—सम्वत् २०२२ दयानन्दाब्द १४१

सृष्टि सम्वत् १९७२९४९०६६
१२ अगस्त सन् १९६५

अपनी बात

संसार आज भौतिकवाद के प्रवाह में इस तीव्रता से बह गया है कि ईश्वर-धर्म और आस्तिकता का नाम भी उसे विस्मृत होता जा रहा है। विज्ञान की खोजों ने जीवन की दिशा को जो नया मोड़ दिया है उसने हमारी सारी आधार शिलाएँ हिला दी हैं।

आज जीवन का लक्ष्य, आवश्यकताएँ मान्यताएँ सभी कुछ बदल गयी हैं। "खाओ पियो और मौज करो" के सिद्धांत पर सभी विचारधाराएँ पल्लवित हो रही हैं। ऐसे में "ईश्वर-प्रत्यक्ष" जैसे आध्यात्म प्रवाह को भेंट करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है।

हमें विश्वास है कि जो भी इसे विचार पूर्वक अध्ययन करेगा, उसे एक नयी दिशा, नया विचार, नयी प्रेरणा प्राप्त होगी। जीवन के प्रत्येक क्षण में आत्म-चिन्तन की स्थिति लाने के लिए पाठक इससे मार्ग दर्शन पा सकेंगे।

"श्रावणी" के पर्व पर इसका प्रकाशन और भी अधिक उपयोगी बन गया है। देश विदेश में आर्य पुरुष इस दिन वेद-अध्ययन का संकल्प लेते हैं। वैदिक विचारधारा प्रसार का प्रण भी सभी दोहराते हैं। 'ईश्वर-प्रत्यक्ष" "वेद" की भाव भरी प्रेरणाओं के आधारभूत पक्ष को प्रसारित, हृदयंगम कराने में, सफल होगा ऐसा हमारा विश्वास है।

परमात्मा हमें सभी को "सत्य" को समझ ज्ञान के प्रशस्त पथ पर चलने की प्रेरणा करे।

श्रावणी संवत् २०२२ | रघुवीर सिंह शास्त्री
१२ अगस्त १९६५ | भारतेन्द्र नाथ

ग्रन्थसंकेत-सूची

सत्यार्थ प्रकाश (गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली द्वारा प्रकाशित संस्करण)	=स. प्र. स.
ऋग्वेदादिभाव्य भूमिका (वेदतत्व प्रकाश) (गोविन्दराम हासानन्द)	=ऋ. भू.
संस्कार विधि (वैदिक मंत्रालय, अजमेर १५ वां सं०, १६८२ विक्रमी)	=सं. वि.
आर्याभिविनय (रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित, अष्टम संस्करण)	=आ. वि.
पंचमहायज्ञ विधि ,,	=पं. म. वि.
व्यवहारभानु ,,	=व्य. भा.
आर्योद्देश्यरत्नमाला ,,	=आ. उ. र.
स्वमंतव्यामतव्य प्रकाश ,,	=स्व. मं.
उपदेश मंजरी (पूना के व्याख्यान)	=उ. म. व्या.
यजुर्वेदभावार्थप्रकाश	=य. भा. प्र.
ऋषिदयानन्द के पत्र व्यवहार और विज्ञापन (भगवद्दत्त बी. ए. सम्पादित, २ य० सं०)	=ऋ. द. प. वि.
ऋषिदयानन्द	=ऋ. द.
मनुस्मृति	=म. स्मृ.
ग्रन्थकर्त्ता	=ग्र. क.

पूर्व विनय

•

मानव-हृदयसरस है, भक्ति से स्वतः परिपूर्ण है। माता-पिता के अंतःकरण में संतान के प्रति ममता, आचार्य के चित्त में शिष्य के प्रति वात्सल्य और पति के हृदय में पत्नी के प्रति स्नेह का रस बहना रहता है। बच्चे के हृदय में माता-पिता के प्रति, शिष्य के मन में गुरु के प्रति और पत्नी के अंतस्तल में पति-देवता के प्रति पूज्य-बुद्धि रहती है। इसी प्रकार मानव के मन में उस अखण्ड एक रस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् निर्विकार सर्वव्यापक सर्वान्तिर्यामी सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर के प्रति श्रद्धाभक्ति की प्रबल भावना रहती है और भक्त के प्रति भगवान् का सजग ध्यान रहता है।

यह परस्पर वात्सल्य और श्रद्धाभक्ति की भावना रहनी ही चाहियेः क्योंकि यही तो परस्पर वात्सल्य और श्रद्धाभक्ति का, जो भेद में अभेद की सृष्टि करता है, एकात्मीयता एवं सहानुभूति का मधुर स्रोत है, मानव के मृदुचित्त की संकुचित कली में माधुर्य व सौरभ भर उसे विकसित करता है, एक बिन्दु मात्र दिल की स्नेह सागर में परिर्वात्तित कर देता है। यह परस्पर अनुराग का भाव ही भक्ति की गंगोत्री है।

भक्ति का सीधा सा अर्थ है, सेवा-बुद्धि। यह 'भक्ति शब्द 'भज्-सेवायाम् (सेवा करना) धातु से बना है। इसका अर्थ 'आराधन का, संकीर्त्तन नहीं, यह तो स्पष्ट ही है। भक्ति से तात्पर्य उस गुण से है। जिससे प्रेरित हो एक 'जीव' दूसरे 'जीव' की और मानव जन्मधारी आत्मा (=मर्त्य-पुरुष) परम आत्मा (—अज पुरुष) की सेवा में तत्पर होता है, यही 'भजन करना' है अर्थात् भक्ति (या भजन) में किसी की सेवा होना आवश्यक है। सेवा का भाव है, अपने से भिन्न की 'मनवचन-कर्म (=मनो—वाक—काय) से अर्थात् सर्वतोभावेन तुष्टि करना, उसके जैसा अपने आप बनना (—तादात्म्यसबन्ध) और उसे अपने अनु-

कूल बनाना । कैसे ? केवल एक मन से नहीं, यह प्रवंचना होगी, केवल वचन स नहीं, यह मिथ्या प्रशंसा होगी और केवल कर्म से नहीं, यह जड़ पूजा होगी । बड़े की बात का स्वीकारना, तदनुसार प्रचार करना और तदनुकूल अपना आचरण बनाना यही सच्ची भक्ति है, वास्तविक सेवा है । ऋषि ने सत्य लिखा है कि 'हम लोग सुख स्वरूप सफल ज्ञानदाता परमात्मा की प्राप्ति के लिये आत्मा और अन्तःकरण से भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञापालन करने में तत्पर रहें ।

परन्तु मध्यकाल में 'भक्ति का इससे भिन्न अर्थ हो गया । अपने शरीर को मुद्राङ्कित करा अर्थात् शरीर पर विशेष चिह्न बना, विशेष पहिन, हाथ में तम्बूरा लेकर 'हरिनाम' या 'गोविंद मुरारे' रटते हुए नृत्य-प्रदर्शन का नाम भक्ति और ऐसा करने वाला समुदाय 'भक्तसमुदाय' लोक में सिद्ध हो गया । जैन बौद्धों के क्षणयक (—नग्नक—दिगम्बर साधु) बने, हिन्दुओं में विभूति-रमाये चिमटाधारी वैरागी वने, मुसलमानों में चोगा पहिरे फकीर बने, कुछ अघोरी बने, नरकपाल में शराब पीने वाले और मल मूत्र खाने वाले बने । ये सब भक्त सिद्ध कहलाये ।

इसका परिणाम इस भारतदेश के लिये ही नहीं, अपितु समस्त विश्व के लिये अच्छा न हुआ । क्यों कि 'बाह्यचिह्न धारण करके भक्त वनना आसान है, परन्तु अष्टांग योग मार्ग का अवलम्बन करके अन्तःकरण शुद्धि करके भक्त बनना कठिन है । इसलिये सबने इसी सरल मार्ग को पकड़ा और सर्वत्र पाखन्ड एवं अन्ध-विश्वास फैल गये । ईश्वर-भक्ति के नाम पर स्वार्थ साधन होने लगा ।

निस्सन्देह इनमें से कई उत्तम चरित्र भी थे, परन्तु वे सब इन बाह्य लिंगों के कारण महान् न होकर अन्तरात्मा से पवित्र थे और 'मन' 'वचन कर्म' से भगतभक्त थे । परन्तु वह रूप भक्ति का वास्तविक रूप नहीं था । क्योंकि इसमें अपने इष्टदेव की वह चाहे कोई भी क्यों न हो—मन वचन कर्म इन तीनों प्रकारों में से किसी प्रकार से भी तो सेवा न हुई । भगवान् को 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव' कहकर उसके वरदहस्त से कोटि कोटि ईश्वर पुत्रों को पृथक रक्खा, पतित पावन और समदर्शी है नाम तिहारो' कहते हुए भक्तों ने करोड़ों 'हरिजनों' को उसके दर्शन से वंचित रक्खा । इतना ही नहीं, उसकी आज्ञा (—वेद) से कोरा रक्खा ।

साथ ही इसमें रासलीला और कुछ ऐसी बातें चल पड़ीं जिससे बहुत गंदगी फैली । पवित्र प्रेम की दुहाई दी गई—और निकृष्टतम काम—मोह का दृश्य उपस्थित किया गया । भारत देश के बिहार प्रान्त में पुरुषभक्तों को भी 'मासिक धर्म' का ख्याल आने लगा । वे चले तो थे शरीर मन आत्मा की शुद्धि करने और बैठ गये शरीर को मैला कर के । परमेश्वर द्वारा या उसके देवदूतों द्वारा गर्भ स्थापन भी इसी भक्ति का ही विकृत रूप है ।

हरिभजन, कथा संकीर्त्तन, जप और नामस्मरण सब इसी भक्ति के नाम से प्रारम्भ प्रचलित हुए । परन्तु इसका अभिप्राय न समझा गया । हरि-भक्ति से हरि प्रसन्न हुए यह तो पता नहीं, परन्तु 'गुरुभक्ति' की अच्छी रही । क्योंकि शिष्यों-चेले-चेलियों द्वारा अपने गुरुओं की 'मन वचन कर्म' से खासी सेवा होती रही । कर्म की सेवा इतनी दूर तक गई कि अपने शरीर का समर्पण भी किया जाने लगा, जहां तक कि गुरु के शरीर की कामनापूर्त्ति के लिये अपनी कन्यायें और स्त्रियां भी गुरुचरणों में भेंट दी जाने लगीं । इस प्रकार कितना भ्रष्टाचार भक्ति के नाम से हुआ, यह इतिहास जानने वाले अच्छी तरह से जानते हैं ।

सच्चे ईश्वर-भक्त गुरुभक्त दयानन्द का जन्म हुआ । उसने गुरु-भक्ति का सच्चा आदर्श उपस्थित किया, गुरु की आज्ञा मान पाखण्ड खण्डिनी पताका विश्व में फहरा दी । सच्ची ईश्वर भक्ति को ईश्वर की, आज्ञा मान सच्चे वैदिक साम्यवाद का प्रचार किया, उसके ज्ञानवेदका, दृष्टांत का सबको अधिकारी बताया । प्रजा को भक्ति का सत्यस्वरूप बताया, नाम स्मरण का वास्तविक अभिप्राय बताया । ईश्वर की पूजा ईश्वर पुत्रों की सेवा से ही पूर्णता को पहुंचती है, इसे अपने जीवन से कर दिखाया ।

प्राणी जगत् में मनुष्य नामधारी प्राणी विवेकशील है । इसकी विवेक शीलता का प्रमाण यही है कि यह धर्माधर्म शुभाशुभ कर्म कर्तव्या कर्त्तव्य पाप-पुण्य में भेद करके; इनमें जो सच है–वास्तविक है–उसका ग्रहण और विपरीत का असत्य का परित्यागता है । साथ ही स्वयं बुद्धि पूर्वक परोपकार करता है; उपकृत हो उपकारक का कृतज्ञ बनता है,अपकृत होकर भी उसकी उन्नति की प्रार्थना करता है; सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझता है, परहित में पर-

तंत्र और सहित में स्वतंत्र रहता है। ऋषि दयानन्द ने आर्याभिविनय नामक भक्ति सुधार सप्लावित दिव्य ग्रंथरत्न में परमेश्वर को जीव का परमोपकारक माना है। इसलिये उसका उपकार मानना—उसकी कृपा के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन करना—मनुष्यता का प्रमुख चिह्न है। यही उसके विवेकशील होने का प्रमाण है।

यही भाव उसे उसकी स्तुति प्रार्थना उपासना के लिये प्रेरित करता है; यही उसकी भक्ति कराता है। इसका विस्तार से वर्णन ऋषि ने अपने ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर किया है। यह वर्णन ऋषि ने 'ऋग् यजुः साम अथर्वः वेद चतुष्टय के आधार पर किया है, इसलिये इसमें पौराणिकता की गंध भी नहीं है।

ऋषि दयानन्द के इन पावन विचारों को एक स्थान पर शृंखला रूप में संग्रहीत करने की बहुत दिनों से मेरी अभिलाषा थी; ताकि भक्त उपासकों को सरलता से उनका बोध हो सके। इसका क्रम यों है—

"संसार में सुख है, प्रकृति का विधान जीव के लाभार्थ है। जीव अपने स्वतन्त्र इच्छा ज्ञान प्रयत्न से प्रकृति में फँसता है। उसे त्रिविध दुःख उठाना पड़ता है; वह जन्म-मरण के चक्र में आ पाप-पुण्य करता है। इन सर्वविध दुःखों और पापों से धर्माचरण द्वारा छूट वह; अभ्युदय इस जन्म और परजन्म के लिए उत्तम सुख चाहता है और फिर भव-बन्धनों से मुक्त हो निःश्रेयस प्राप्त करता है। यही 'उसके राह' पर आना है और जीव का यही सुख प्राप्ति उसके जीवन का परम लक्ष्य है।"

"आस्तिकों ने इसके लिए 'जप-तप' का मार्ग बनाया है। नामस्मरण ईश्वर की स्तुति (प्रशंसा करना, गुणानुवाद, उसके सत्य रूप का वर्णन), प्रार्थना (=याचना) और उपासना (आत्मसमर्पण करके तन्मय या तन्निष्ठ होने का प्रयत्न) ये सब इसीलिये किये जाते हैं। इसका व्यावहारिक मार्ग अष्टांग योग है। जिसमें अब वे सब साधन आ जाते हैं, जिनसे ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है, ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, विष्णु के परमधाम की प्राप्ति है। यही चरम सुख है, जिसकी प्राप्ति जीव का परम लक्ष्य है।"

इसी सच्चे भक्ति मार्ग का विशेष विवरण इस पुस्तक में है। भक्त पाठक को यह क्रम स्मरण रखना चाहिये और एक-एक बात ध्यान से पढ़ कर पहले

समझ लेनी चाहिए । फिर तदनुसार नामस्मरण, धर्माचरण, स्तुति प्रार्थना-उपासना और अष्टांग योग की सिद्धि करनी चाहिए । यही उसक प्रार्थना की इतिश्री है । यही जीव का उसकी शरण में जाना है ।

मैंने यत्र-तत्र ऋषि दयानन्द के वाक्यों में योग-वियोग किया है; ऐसा करना आवश्यक था । क्योंकि इस एक विषय पर ऋषि ने कई स्थानों पर लिखा है । उन सबको मिला कर मारे विषय को एकरूपता देना, उसमें एकरसता लाना आवश्यक था; नहीं तो यह ग्रन्थ ऋषि की लिखी सम्मतियों का संग्रहमात्र हो जाता । मेरा ऐसा उद्देश्य नहीं है । मैंने इस विषयक सब स्थलों को पढ़कर यथाबुद्धि समझ कर उस सारे को एक श्रृंखला में बाँध दिया है । बीच-बीच में उन सब स्थलों का उल्लेख भी करता गया हूँ । अगर प्रतीकें निकाल भी दी जावें, तो भी, न ग्रन्थ की एकसूत्रता भंग होती है और न विषय के समझने में कठिनाई ही । जिनको मेरा यह योग नियोग पसन्द न हो, वे इन उद्धरणों को छोड़कर पढ़ लें और इस ग्रन्थ को एक आस्तिक वेद मतावलम्बी ऋषि भक्त के ईश्वर पूजा सम्बन्धी विचार समझ लें । उन्हें भी इससे अमित-लाभ पहुँचेगा और ईश्वर पूजा सम्बन्धी क्रमबद्ध विचारों की झाँकी मिलेगी; जो वेदों के अनुसार है ।

आओ भक्तो ! हम उस परमपिता, परमकारुणिक, भगवती माता, उत्तम-शिक्षक पिता, अनुकूल मित्र, बन्धु, सखा, परम उपासनीय, परमदर्शनीय, इष्टदेव की शरण में पूर्ण आत्मसमर्पण कर दें । क्योंकि—

हे मनुष्यो ! जैसे पुत्र लोग पिता के घर में आनन्दपूर्वक निवास करते हैं; वैसे ही परमात्मा के भक्त उसकी शरण में सदा सुखी ही रहते हैं । जैसे अत्यन्तोत्तम गुणयुक्तपति की सेवा में तत्पर पतिव्रता नारी रात-दिन तन-मन धन से अत्यन्त प्रीतियुक्त हो उसके अनुकूल ही रहती है । आओ भाइयो ! वैसे ही प्रेमयुक्त होके निराकार सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की अनन्यचित्त हो सत्य श्रद्धा से भक्ति करके, उस परमात्मा से परमसुख तथा लाभ उठावें

श्रावणी संवत् २०२२

मदनमोहन विद्यासागर
प्रेम मन्दिर नारायण गुड़ा
हैदराबाद आंध्र

विषय-सूची

प्रथम अध्याय— सुख-दुःख, पाप-पुण्य विवेचन पृ० ११

१. त्रिविधसुख
२. त्रिविध दूःख
१. सुख दुःख का लक्षण
४. जन्म-मरण का चक्र
५. भद्र-प्राप्ति
६. पुण्य-पाप
७. दशधापाप

द्वितीय अध्याय—धर्माधर्म विवेक पृ० १६

१. धर्माधर्म विचार
२. धर्म का स्वरूप
३. अधर्म का स्वरूप
४. धर्म अधर्म का फल
५. धर्म के दश लक्षण
६. अधर्म के दश लक्षण
७. धर्म कर, अधर्म त्यज

तृतीय अध्याय— पृ० २७

१. उसकी राह पर
२. ईश्वर प्रत्यक्ष
३. नाम स्मरण

चतुर्थ अध्याय— पृ० ३७

१. ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना
२. सगुण निर्गुण स्तुति प्रार्थनोपासना
३. स्तुति प्रार्थनोपासना का प्रकार

पंचम अध्याय— पृ० ५७

क—अष्टांग योग

१. यम नियम आसन
२. प्राणायाम
३. प्रत्याहार
४. धारणा, ध्यान, समाधि

ख—संयम पृ० ७०

उपसंहार

प्रथम अध्याय

१. त्रिविध सुख

इस संसार में त्रिविध सुख अर्थात् तीन प्रकार के सुख हैं; शारीरिक, वाचिक और मानस (स० वि० २०१)। प्रत्येक प्राणधारी जीव आनन्द का अभिलाषी है। प्राणियों में सूक्ष्मतम जीवजन्तु अथवा निकृष्टतम प्राणी वराह भी यह नहीं समझना चाहिए कि नीरस हृदय लिये है। उसमें भी सुखाभिलाषा है; जो कलाशून्य दीखती है। यदि वृक्षवनस्पतियाँ सुखदायक न होतीं, तो विविध रंगरूपों वाली प्रकृति में सुहावनी वसन्त की मादक स्फूर्ति कभी न होती। हरे-भरे अंकुरों पर शोभायमान फूलों का खिल उठना, उसी सुख की सर्वोत्कृष्ट सौंदर्यमयी अभिव्यक्ति है। प्रकृति का विधान अर्थात् सृष्टि का प्रयोजन प्राणियों के सुख के लिये ही है। यह बात और है कि सृष्टि के पदार्थों का उपभोग ठीक न करने से सब जीव अपने आप दुःख उठाते हैं। अर्थात् धर्माचरण करने से वह धर्म का फल जो सुख, उसको प्राप्त करता है और अधर्माचरण से अधर्म का फल जो दुःख, उसको भोगता है (ग्र० क०)। मनुष्यों को चाहिए कि धर्मात्माओं के मार्ग पर चलते हुए इन तीनों प्रकार के सुखों को प्राप्त होवें (यजु० भा० प्र० १३।३१)।

प्रथम प्रकार●

१. शारीरिक सुख—स्थूल शरीर द्वारा अनुभव किये जाने वाला सुख। जैसे; भौतिक पदार्थों द्वारा जन्य विषय सुख, परमावधिरूप दाम्पत्य सुख, नियमित सात्विक आहार द्वारा तथा आसन, प्राणायाम द्वारा दीर्घायुष्य उत्तमारोग्य प्राप्ति रूप सुख।

२. वाचिक सुख—सत्य भाषण, मृदुभाषण, मधुरभाषण द्वारा अनुभूत सुख।

३. मानसिक सुख—अनुराग, मैत्री, करुणा, धृति, क्षमा, दया, परोपकार शिव संकल्पादि से प्राप्त होने वाला सुख।

द्वितीय प्रकार●

१. आध्यात्मिक सुख—वे हैं, जो शरीर और मन सम्बन्धी हैं। जैसे—सात्विकाहार, उत्तम रंगरूप, सौन्दर्य, अंग सौष्ठव, उत्तमारोग्य, दीर्घायुष्य आदि शारीरिक और विद्या, प्रेम, परोपकार, करुणा, दया, धृति, क्षमा, निश्चिन्तता, ईश्वर भक्ति आदि से उत्पन्न मानसिक सुख कहाते हैं।

२. आधिभौतिक सुख—वे हैं, जो दूसरे प्राणियों से होते हैं। जैसे:—पुत्र कलत्र, बन्धुबान्धव, मित्र-स्नेही, वृद्धजनों द्वारा प्राप्त तथा पुरस्कार प्रशंसा प्राप्ति का होना।

३. आधिदैविक सुख—ये सुख वे हैं, जो दैवगति से प्राप्त होते हैं। जैसे:—सुवृष्टि, उत्तम ऋतु परिवर्तन द्वारा मनुष्य को होते हैं। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, अग्नि, जल, शीत, वायु, भय के न होने से उपलब्ध सुख।

●इस सुख के दो प्रकारों का विवरण हमने स्वयं कल्पना किया है। इसका आधार हमारा चिन्तन और स्वाध्याय ही है। द्वितीय प्रकार की कल्पना तो ऋषि दयानन्द द्वारा सम्मत 'त्रिविध दुःख' के आधार पर ही स्पष्ठ है।

२. त्रिविध दुःख

इस संसार में 'त्रिविध ताप' अर्थात् तीन प्रकार के दुःख हैं; आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक (स० प्र० ६ स० ३४१; १ स० १२; आ० वि० ५२ सं० वि० २७३; ऋ० भू० ४०६)। इन्हीं को तापत्रय, दुःखत्रय, क्लेशत्रय या त्रिशूल भी कहते हैं (स० प्र० १ स० १३)।

१. आध्यात्मिक दुःख वे हैं; जो शरीर और मन सम्बन्धी हैं। जैसे; ज्वर, शिरोवेदना, अतिसार, अर्धाङ्ग, क्षय और कुष्ठ आदि रोग से उत्पन्न शारीरिक और अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता, ईर्ष्या, क्रोध, अधैर्य, चिन्ता आदि से उत्पन्न मानसिक दुःख कहलाते हैं।

२. आधिभौतिक दुःख वे हैं; जो दूसरे प्राणियों से होते हैं। जैसे; सांप काटना, शत्रु का आक्रमण, चोरी हो जाना, व्याघ्र का आक्रमण, किसी का झूठा मुकदमा चलाना, असत्यापवाद लगाना आदि-आदि।

३. आधिदैविक दुःख वे हैं; जो दैवगति से होते हैं। जैसे; अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, अग्निभय, अतिताप, अतिशीत, अकाल, विद्युत्पात, जल-प्रवाह, झंझावात आदि।

३. सुख-दुःख का लक्षण

इस प्रकार इस संसार में सुख और दुःख दोनों हैं। बहुत से मनुष्य सुखी दिखाई पड़ते हैं और बहुत से प्राणी दुःखी जान पड़ते हैं। सुख-दुःख के चक्र में प्राणी घूम रहा है। यह सुख दुःख क्या है (ग्र० क०)?

जितना परवश होना = पराधीनता है, वह सब दुःख और जितना स्वाधीन होना स्वाधीनता है, वह सुख कहलाता है। यही संक्षेप से सुख और दुःख का लक्षण जानना चाहिये। (सं० वि० २५०; स० प्र० ४/१३४) यह निश्चित है कि जो मनुष्य धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक-ठीक वर्तता है, उसको सर्वत्र सुख-और जो लोभ वश विपरीत वर्तता है, वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर

लेता है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह जो जो पराधीन कर्म हैं, उस-उस को प्रयत्न से सदा छोड़े और जो जो स्वाधीन कर्म हों, उस-उस का सेवन प्रयत्न से किया करे (स०वि० २५०-२५१; स०प्र० ४१३४)। यह जीव सुख और दुःख से सदा ग्रस्त रहता है। क्योंकि शरीर सहित जीव की सांसारिक* प्रसन्नता की निवृत्ति योग्य है। और जो शरीर रहित मुक्त जीवात्मा ब्रह्म में लीन रहता है, उसको सांसारिक सुख दुःख स्पष्ट भी नहीं होता। किन्तु सदा आनन्द में रहता है (स० प्र० ६/३१७)।

४. जन्म-मरण का चक्र

जीव का जन्म-मरण के चक्र में आना पराधीन हो जाना है; क्योंकि इससे उसका स्वेच्छाचरण अर्थात् स्वाधीनता नष्ट हो जाती है इसलिये इसे दुःख कहते हैं। मानव जन्म पाकर जीव जब पुण्यात्मा बनता है, तो संसार में सुख भी पाता है। इस प्रकार सर्वप्रकार सर्वविध दुःखों और सुखों को भोगने के लिये शरीर में ग्रस्त होने (=जन्म-मरण चक्र में फंसने) रूप परतन्त्रता का नाम बन्ध=बन्धन है (ग्र० क०)। यह बन्धन सनिमित्तिक अर्थात् अविद्यानिमित्त से है इसकी इच्छा नहीं की जाती; पर भोगना पड़ता है। ईश्वर भिन्नोपासना ईश्वरआज्ञाभंग और अज्ञान आदि जो-जो पाप कर्म दुःख फल उत्पन्न करने वाले हैं, वे बन्ध हेतु हैं (स० प्र० ६/३०७-३०८; स्व. म. प्र. ११)।

जीव का जन्म-मरण के चक्र से छूट जाना स्वाधीन हो जाना है; क्योंकि इससे वह स्वेच्छा से अत्यन्तदीर्घकाल तक परमेश्वर के सान्निध्य में स्वतंत्रता-पूर्वक सुख ही सुख भोगता है। उसे स्वाधीनता मिल जाती है अर्थात् उसका स्वरूप में अधिष्ठान हो जाता है इस प्रकार सर्वविध दुःखों से पूर्णतः छूटने और परमात्मा में रहते हुए सुख प्राप्त करने का नाम मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, निःश्रेयस् ,शाश्वत् सुख, अनन्तसुख,महासुख या तद्धामप्राप्ति या परमपद लाभ है (ग्र० क०)।

५. भद्रप्राप्ति[1]

जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़कर सांसारिक सुखों का भोग और जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मोक्ष सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार (ग्र०क०) 'सुख दो प्रकार का होता है :—

१. 'एक जो सत्यविद्या की प्राप्ति में अभ्युदय[2] अर्थात् (इस जन्म में) चक्र-वर्ती राज्य, इष्ट मित्र, धन, पुत्र, स्त्री और शरीर से अत्यन्त उत्तम सुख का होना।"

२. 'दूसरा निःश्रेयस्[3] सुख है, जिसको मोक्ष कहते हैं जिसमें ये दोनों सुख होते हैं, उसी को भद्र कहते हैं (ऋ० भू० ६)। अर्थात् व्यावहारिक सुखोपलब्धि लौकिक ऐश्वर्य प्राप्ति आदि शरीर से भोगने योग्य) और पारमार्थिक (=पाप दुःख से छूटकर कारण शरीर द्वारा भोगने योग्य) सुख का नाम भद्र है (आ० वि० छोटा साइज २६)।

मुक्त दशा में जीव सब बुरे काम तथा जन्ममरणादि दुःखसागर से पार हो, विविध पापों से छूटकर बन्धन रहित हो जाता है तथा सर्वव्यापक सुखस्वरूप अनन्त ईश्वर को प्राप्त होकर उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरते हुए सुख ही सुख का अनुभव करता है और नियत समय पर्यन्त (स० प्र० ९।३१६-३२१; वे० वि० मतखण्डन शं० सं० ७९५) इस मुक्ति सुख को भोग जब मुक्ति की

१भद्र शब्द विशेष अर्थ को देने वाला है। 'यद्भद्रं तन्न आसुव'। भद्र शब्द की निरुक्ति है, 'भयं द्रणाति' 'भय का द्रावक'। द्रावक = नाशक। सुख की वह स्थिति जिसमें जीव भय से सर्वथा उन्मुक्त रहे। भय का कारण पाप अधर्म तथा (तज्जन्य) दुःख होता है। इनके मिटने से दुःख दूर होकर, निवृत्ति' या सुख प्राप्त है, यही भयरहित दशा भद्र प्राप्ति है।

पाप और दुःख भवचक्र में ग्रस्त प्राणी को होते हैं; भवचक्र तब तक रहता है, जब तक जन्म-मरण की शृंखला नहीं टूटती। दृष्ट जन्म-मृत्यु प्रथम और अन्तिम नहीं। इस प्रकार मनुष्य इस जन्म और अन्य जन्म और अन्य

अवधि पूरी हो जाती है, तव महाकल्प के पश्चात् वहाँ से छूट पुनः संसार में आता है (स्व० न० प्र० १२ इक उ० र० र० २६; स० प्र० ६।३१३-३३३७-तक; सत्यध० वि० श० सं० ८३ ८४०; भ्रान्तिनि श० स० ६०१) मुक्ति के समय के मध्य में संसार में नहीं आना पड़ता (स० वि० २६०)

६. पुण्यपाप

जीव मानवयोनि पाकर अपने कर्म करने में सर्वदा स्वतन्त्र और इनका फल भोगने में परमेश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र अर्थात् ईश्वराधीन रहता है (ऋ० द० के प० वि० २ य सं० ३४७; स० प्र० ७ स० २५०; ८ स० ३०५-३०६)।

जन्मों में भी पाप पुण्य के सुखदुःखरूप फल भोगता है। इसी को यह लोक और परलोक (= पर जन्म) में सुख दुःख भोगना कहते हैं। पाप करके मनुष्य पहले अपना वर्तमान जन्म (इहलोक) और अन्य जन्म (=परलोक) सुधारता है; इसीको ऐहिक ओर आयुष्मिक या इह लौकिक पारलौकिक सुख प्राप्ति कहते हैं। इहामुत्र प्राप्तव्य सुख भोग का नाम ही, अभ्युदय प्राप्ति है। अर्थात् जीव का अभ्युदय वर्त्तमान और आगामी जन्म-जन्मान्तर तक होता रहता है। इस में 'शरीर' रहता है।

फिर जब जन्मजन्मान्तरों में दुःख की अपेक्षा या अधिक सुख भोग करता ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है; जबकि उसके कर्मों का क्षय हो जाता है; उस समय उसे 'निःश्रेयसाधिगम' जन्ममृत्यु के दुःख से रहित धर्म का लाभ (स. वि. २७४) होता है। अब शरीर नहीं रहता।

इस प्रकार अभ्युदय और निश्रेयस सुख की प्राप्ति का नाम भद्र प्राप्ति है (ऋ. भू. ६)।

योगदर्शन में वर्णित दृष्ट (इन्द्रियगम्य) सुख का नाम अभ्युदय और आनुश्रविक (=श्रुतिप्रतिपान्न, वेदसिद्ध) सुख का नाम 'निःश्रेयस' कह सकते हैं। (ग्र. क.)

इस प्रकार वह सत्कर्म और दुष्कर्म स्वतन्त्रता से करता है। सत्कर्म अर्थात् पुण्य ही सदा करने चाहियें। इसका (ग्र० क०) 'स्वरूप विद्यादि शुभगुणों का दान, सत्यभाषणादि, सत्याचार, प्रीतिपूर्वक, न्यायानुसार धर्मयुक्त व्यवहार और सब जीवों का परोपकार करना है (आ० उ० र० ४)।' 'सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना (आ० स० के नि० ७)', 'सत्य ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना (आ०स० के० नि० ४)','सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना', 'अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि' में (आ० स० के० नि० ८) और इस प्रकार सर्वदा 'संसार का उपकार करने अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करने (आ० स० के० नि० ६)' में अपना तन, मन, धन सर्वस्व लगाना आदि पुण्य के कर्म हैं (ग्र० क०)। इनसे सुख मिलता है। क्योंकि उत्तम कर्म, पुण्य से कुछ भी दुःख नहीं होता (स० वि० २०१)।

जो पुण्य से उलटा अर्थात् विद्यादि शुभ गुणों से लोगों को वंचित रखना (ग्र० क०) मिथ्या भाषणादि दुराचार, द्वेष अन्याय, पक्षपात से अधर्मयुक्त व्यवहार और सब जीवों को कष्ट पहुँचाना होता है (आ० उ० र० ५), वह पाप या दुष्कर्म कहाता है। इसका परिणाम सदा दुःख है (ग्र० क०)।

७. दशधा पाप*

मनुष्य तीन प्रकार शरीर, वाणी और मन से पाप करता है।

शारीरिक पाप—चार प्रकार का है, हिंसा—प्राणघात, चोरी और व्यभिचार=परस्त्रीगमन या पर पुरुषसंयोग। ये तीनों कायिक पाप भी कहाते हैं।

---

* महाभारत के अनुसार।

वाचिक पाप—तीन प्रकार का है; असत् प्रलाप=असम्बद्ध भाषण, कटु-भाषण, चुगली करना और असत्यभाषण ।

मानसिक पाप—तीन प्रकार का है; परधन की अभीप्सा, दूसरे से द्वेष वैर करना, नास्तिकता ।†

इस प्रकार पाप की प्रवृत्ति दशधा होती है । वेद से लेके पृथिवी पर्यन्त जो यह जगत् है, सो सब ईश्वर के नित्य सामर्थ्य से ही प्रकाशित हुआ है । ईश्वर सबको उत्पन्न करके सब में व्यापक होके अन्तर्यामी रूप से सबके पाप पुण्यों को देखता हुआ पक्षपात छोड़ के सत्य न्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है । ऐसा निश्चित जान के ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है कि मन वचन और कर्म=(शरीर)से पाप कर्मों को कभी न करें । ईश्वर सबके अन्तःकरण के कर्मों को देख रहा है । इसलिए पाप कर्मों का आचरण मनुष्यों को सर्वथा छोड़ देना चाहिये (प० म० वि० १५) ।

---

† १. सृष्टिकर्त्ता चेतन दिव्य परमेश्वर में श्रद्धा का न रखना (स० प्र० ९।३३७) ।

२. वेदों की निन्दा अर्थात् अपमान, त्याग (तिरस्कार) और उनके विरुद्ध आचरण करना (स० प्र० ३।८९ तथा ३।९२);

३. विद्या, धर्म, परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल और मुक्ति से विमुख होना (स० वि० २४४);

४. सत्संग, माता-पिता, आचार्य और अतिथियों की सेवा छोड़ना और उनकी निन्दा करना (स० प्र० ४।१०९) ये सब नास्तिकता के लक्षण हैं । मिला कर दृष्टव्य, स० प्र० ९।३३७; ११।४१८-४१९; ३।९२ और ८९;

द्वितीय अध्याय

धर्माधर्म विचार

★

पुण्य का अर्थ है धर्म और पाप का अधर्म (ग्रं० क०)। ‡स्त्री पुरुष को चाहिये कि जैसे, (पुत्तिका) दीमक (वल्मीक) वांमी को धीरे-धीरे बनाती है, वैसे सब भूतों को पीड़ा न देकर परलोक (पर जन्म) के सुखार्थ धीरे-धीरे धर्म का संचय किया करे। (स० वि० २५२)। क्योंकि परलोक में न माता, न पिता, न पुत्र, न स्त्री और न जाति (बन्धु बान्धव) सहाय कर सकते हैं; किन्तु एक धर्म ही सहायक होता है। जीव अकेला ही जन्म और मरण को प्राप्त होता है; एकाकी ही धर्म का फल जो सुख और अधर्म का फल जो दुःख उसको भोगता है (मनु० ४।२३८-२४०)। जब कोई किसी का सम्बन्धी मर जाता है, उसको मिट्टी के ढेले के समान भूमि में छोड़ कर पीठ दे बन्धुवर्ग विमुख होकर चले जाते हैं। कोई उसके साथ जाने वाला नहीं होता; किन्तु एक धर्म ही उसका संगी होता है (मनु० ५।२४१)।

‡इस हेतु से परलोक (परजन्म) में सुख और जन्म के सहायार्थ नित्य धर्म का संचय धीरे-धीरे करता जावे। क्योंकि धर्म के ही सहाय से बड़े-बड़े दुस्तर दुःखसागर को जीव तर सकता है। किन्तु जो पुरुष धर्म ही को प्रधान समझता है और जिसका धर्म के अनुष्ठान से कर्त्तव्य पाप दूर हो गया है, उसको

‡ स० प्र० ७ स०, १३१, १३२।

प्रकाशस्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है, उस परलोक* (=परमदर्शनीय परमात्मा, परमपद) को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है। (मनु० ४।२४२, २४३)।

२. धर्म का स्वरूप

जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन; न्यायाचरण, पक्षपात रहित सर्वहित करना, सत्यभाषणादियुक्त यमनियमादि पालन कराना है; न्याय-सत्य का ग्रहण और अन्याय-असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार; जोकि प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त एवं वेदों से अविरुद्ध हैं; ऐसे सर्वतन्त्र सिद्धान्त जिनको सदा से सब मानते आये, मानते हैं, मानेंगे अर्थात् जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है (=जो सबके अविरुद्ध होता है); जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी परोपकारक पक्षपात रहित विद्वान् मानें; जो सृष्टि नियमों के अनुकूल हो। सब मनुष्यों को यही एक मानना योग्य है (मिलाकर द्रष्टव्य, अ० ३, र० २; स्व० म० ३; व्य० भा० २०, २७, २८, २९; स० वि० २३०, २४३; स० प्र० ३ स० ६२; ऋ० भू० २३५, २६१, २२३, ६०८-६०९; आ० वि०)।

३. अधर्म का स्वरूप

धर्म से जो विपरीत है, अर्थात् "जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन न करना (=ईश्वर आज्ञा भंग); अन्यायाचरण; पक्षपात सहित अन्यायी होकर सबके अहित के काम करके अपना ही हित करना; मिथ्या-

---

*जन्म, परलोक और परमपद तीन स्थितियाँ हैं। परलोक का सामान्य अर्थ है, वर्तमान जन्म से भिन्न 'जन्म जन्मान्तर'। इहलोक का अर्थ है, वर्तमान जन्म। जीव जब जन्म जन्मान्तर के चक्र से छूट जाता है, तब 'परमपद' = मोक्ष को प्राप्त होता है। अर्थात् ईश्वरसान्निध्य में चला जाता है। इस स्थिति को यहाँ पर 'प्रकाशस्वरूप और आकाश जिसका शरीरवत् है, उस परलोक (परमपद) अर्थात् परमदर्शनीय परमात्मा (की समीपता) की प्राप्ति कहा है।

भाषणादियुक्त, विषयभोगरतता; जोकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अपरीक्षित और अनार्षग्रन्थप्रोक्त (=अवैदिक) एवं अविद्या हठ अभिमान क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेद विद्या से विरुद्ध है; जो तीन काल में एकसा मानने योग्य न हो और परस्पर विरुद्धाचरण युक्त हो; अविद्वान् अर्थात् दुराग्रही स्वार्थियों पाखण्डियों धूर्तों-मूर्खों द्वारा प्रतिपादित मत तथा जो सृष्टि नियमों के विरुद्ध है। सब मनुष्यों के लिये इनका छोड़ना योग्य है (आ० उ० र० ३; स्व० म० ३; स० प्र० ३ रु० समु० के आधार पर; ऋ० भू० २३५; व्य० भा० २०, २६, ३६; स० वि० २३६)।

४. धर्म–अधर्म का फल

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः (वैशे० १।१।२)। जिसके आचरण करने का फल (अभ्युदय) इस संसार में (अर्थात् इस वर्तमान जन्म=इहलोक और परजन्म=परलोक में) उत्तम सुख और निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख (=जन्म मरण चक्र से मुक्ति) पाकर स्वतन्त्रता से सुख ही सुख का अनुभव करना होता है) उसकी प्राप्ति होता है, उसी का नाम धर्म है (ऋ० भू० वे० ध० वि० २६१ तथा २३५-२३६ पृ०) इससे विपरीत फल अधर्म का होता है अर्थात् अधर्म से इहलोक और परलोक में दुःख ही दुःख उठाना होता है और यह जन्म-मरण के चक्र का कारण बनता है (ग्र० क०)।

धर्म का फल भद्र अर्थात् अभ्युदय (=इस जन्म एवं परजन्म में सुख प्राप्ति) और निःश्रेयस की सदा प्राप्ति है। धर्माचरण से कभी दुःख नहीं प्राप्त हो सकता, सदा सुख की प्राप्ति ही होती है और अधर्माचरण से कभी सुख नहीं प्राप्त हो सकता, सदा दुःख की प्राप्ति ही होती है (ग्र० क०)। ईश्वर ने

---

‡जिसका ईश्वर ने निषेध किया है, वह अनर्थरूप होने से अधर्म है (ऋ० भू० २६१)। जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण, सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहण रूप कर्म है, उसको अधर्म कहते हैं (प० प्र० ३ स०, ६२-६३)।

वेदों में सब मनुष्यों के हित के लिये जिसका उपदेश किया है (ऋ० भू० २६१), जिसके करने की आज्ञा दी है, प्रेरणा की है; वही धर्म अर्थयुक्त (=लाभकारी) होता है और जिसका ईश्वर ने निषेध किया है, वह अनर्थयुक्त होने से अधर्म है। ऐसा जानकर सब मनुष्यों को इस अधर्म का त्याग करना चाहिये और धर्म का आचरण करना चाहिए अर्थात् इसी धर्म के अनुसार सब काम करने चाहियें (ऋ० भू० वे० ध० नि० २६१)। इस प्रकार के धर्माचरण से उपासक ईश्वरसान्निध्य=परमेश्वर की समीपता प्राप्त करता है (ग्र० क०)।

५. धर्म के दश लक्षण*

१. धृतिः—सदा धैर्य रखना (स० प्र० ११०) अर्थात् सुख दुःख हानि लाभ में भी व्याकुल होकर धर्म को न छोड़ना, किन्तु धैर्य से धर्म में ही स्थिर रहना (स० वि०)। चाहे कितनी आपत् विपत् क्लेश दुःख प्राप्त हों, तथापि धैर्य रखके कभी न घबराना (स० वि० २४५)।

२. क्षमा—निन्दा स्तुति मानापमान हानि लाभ आदि दुःख कष्टों में भी सहनशील हो (स० प्र०) धर्म ही करना (स० वि०)। क्षमा अर्थात् शान्ति, कोई निन्दास्तुति आदि से सतावे, तो भी उन पर दयालु रहकर क्रोधादि का न करना (स० वि० २४४)।

३. दम—मन को सदा धर्म में प्रवृत्त कर अधर्म से ऐसे रोकना कि अधर्म करने की इच्छा भी न उठे (स० प्र०, स० वि०)।

४. अस्तेय—विना आज्ञा, अधर्म और अन्याय से (स० वि०) अर्थात् छल कपट विश्वासघात अथवा किसी व्यवहार से तथा वेद-विरुद्ध उपदेश से पर-पदार्थ के ग्रहण करने रूप चोरी का मन वचन कर्म (स० वि०) से त्याग करना (स० प्र०) अर्थात् पराये द्रव्य का स्वीकार न करना (स० वि०)।

*** ये लक्षण, स० प्र० ५ स० १६५; उप० मं० न्या० २५-३२ पृ० तक; स० वि० २५६ में जानने चाहियें।**

५. शौच—राग द्वेष मोह पक्षपात आदि के त्याग से भीतर आत्मा मन को पवित्र रखना, और जल मृत्तिका आदि से बाहर शरीर आदि को शुद्ध रखना (स० वि० २४३)।

६. इन्द्रियनिग्रह—श्रोत्रादि इन्द्रियों को अधर्माचरणों से रोक धर्म ही में सदा चलाना (स० प्र०, स० वि०)।

७. धी—बुद्धि नाशक मादक द्रव्य एवं इसी प्रकार के अन्य मांसादि पदार्थ दुष्टों का संग और आलस्य प्रमाद आदि दुर्व्यसनों (स० वि०) को छोड़ के बुद्धिवर्धक सात्विक श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन, सत्पुरुषों का संग (स० प्र०) वेदादि सत्यविद्या ब्रह्मचर्य सत्संग करने से (स० वि०) और योगाभ्यास से बुद्धि को बढ़ाना।

८. विद्या—पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त (का) यथार्थ ज्ञान और उनसे यथायोग्य अपने और दूसरों के लिये उपकार लेना; सत्य जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा वाणी में, जैसा वाणी में वैसा कर्म में वर्त्तना विद्या और इससे विपरीत आचरण अविद्या है।

९. सत्य—जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही समझना, वैसा ही बोलना और वैसा ही करना (स० प्र०) अर्थात् सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य करना (स० वि०)।

१०. अक्रोध—क्रोध आदि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों का ग्रहण करना।

इस दस लक्षणयुक्त पक्षपातरहित न्यायाचरण रूप धर्म का सेवन ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी चारों आश्रमों वालों को करना योग्य है (स० प्र० ५ स० १६५; स० वि० २५६)।

६. अधर्म के दश लक्षण

अधैर्य, असहन (=क्षमा न करना), मन को अधर्म में चलाना (=मन का दमन न करना), चोरी करना, (शरीर मन आत्मा से) अपवित्र रहना, इन्द्रियों को न जीत कर अधर्म में चलाना, कुसंग दुर्व्यसन मद्यपानादि से बुद्धि का नाश करना, अविद्या अज्ञान अधर्माचरण में फँसना, असत्य मानना, असत्य

बोलना, असत्य करना और क्रोधादि दोषों में फँस कर दुष्टाचारी होना, ये दस अधर्म के लक्षण हैं। इनसे सदा दूर रहना चाहिये (स० वि० २५७)।

७. धर्मंचर, अधर्मं त्यज

सदा दृढ़कारी, कोमल स्वभाव, जितेन्द्रिय, हिंसक-क्रूर-दुष्टाचारी पुरुषों से पृथक् रहने वाला उपकारी, धर्मात्मा व्यक्ति मन के दमन और विद्यादि दान से सुख को प्राप्त होवे (मनु : ४।२४६)।

इसलिये मिथ्या भाषणादि रूप अधर्म को छोड़ के धर्माचार से अर्थात् ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियता से पूर्ण आयु, उत्तम प्रजा और अक्षयधन मनुष्य को प्राप्त होता है तथा धर्माचार (=पुण्य-आचरण, सत्प्रवर्त्तन) से दुष्ट अधर्मयुक्त दुष्ट लक्षणों का नाश करता है (मनु : ४।१५६)। स० प्र० ७ स० १३३ तथा स० वि० २५०)॥

अधर्मात्मा मनुष्य धर्म की मर्यादा छोड़ के (जैसे तालाब के बाँध को तोड़ जल चारों ओर फैल जाता है, वैसे) मिथ्याभाषण, कपट, पाखंड (रचना करने वाले वेदों के खण्डन) और विश्वासघात आदि कर्मों से पराये पदार्थों को लेकर प्रथम बढ़ता है। धनादि ऐश्वर्य से खान-पान, वस्त्र-आभूषण, यान-स्थान, मान-प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है; अन्याय से शत्रुओं को भी जीत लेता है। परन्तु पश्चात् जड़ काटे हुए वृक्ष की तरह वह अधर्मी शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है (मनु : ४।१७४; स० प्र० ७ स० १२८)।

क्योंकि—'किया हुआ अधर्म निष्फल कभी नहीं होता। परन्तु इस संसार में जैसे गाय की सेवा का फल दूध आदि शीघ्र नहीं होता, वैसे ही जिस समय मनुष्य अधर्म करता है, उसी समय अधर्म का फल भी नहीं होता। इसलिये अज्ञानी लोग अधर्म करने से नहीं डरते। तथापि यह निश्चय जानो कि वह अधर्माचरण धीरे-धीरे उस अधर्म कर्त्ता के सुखों को रोकता हुआ सुख के मूलों को काटता चला जाता है और पश्चात् अधर्मी दुःख ही दुःख भोगता है। (मनु० ४।१७२; स० प्र० ७ स० १२८, स० वि० २५१)।

यदि बहुत सा धन राज्य और अपनी कामना अधर्म से सिद्ध होती हो, तो भी अधर्म सर्वथा छोड़ देवे और ऐसा वेद विरुद्ध धर्माभास जिसके करने से

उत्तर काल में दुःख एवं संसार की उन्नति का नाश होवे, वैसा नाममात्र का धर्म और कर्म कभी नहीं करना चाहिये (मनु० ४।१७६; स० वि० २१०)।

सब मनुष्यों को योग्य है कि काम=झूठ द्वारा कामना सिद्धि के हेतु से, निन्दा स्तुति आदि के भय से भी धर्म का त्याग कभी न करें। लोभ से अर्थात् झूठ अधर्म से चक्रवर्ती राज्य भी मिलता हो, तो भी धर्म को छोड़ चक्रवर्ती राज्य का ग्रहण न करे। भोजन, छादन, जलपान आदि की सम्पादना धर्मपूर्वक करने पर प्राण भी जाते हों; परन्तु जीविका के लिए भी धर्म को कभी न छोड़ें। क्योंकि जीव और धर्म नित्य हैं तथा सुख दुःख दोनों अनित्य हैं। अनित्य के लिए नित्य का छोड़ना अतीव दुष्ट कर्म है। धर्म का हेतु अर्थात् जिस शरीर से धर्म होता है, वह भी अनित्य है। धन्य हैं वे मनुष्य, जो अनित्य शरीर और अनित्य सुख दुःख आदि व्यवहार में वर्तमान होकर भी धर्म का त्याग कभी नहीं करते (महाभारत, स० वि० २५८, २५९)।

जो पुरुष धर्म का नाश करता है, धर्म उसी का नाश कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। इसलिए मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले (धर्म विरुद्धाचरण से हम नष्ट न हो जावें) इस भय से धर्म का हनन (त्याग, अधर्माचरण) कभी नहीं करना चाहिये (मनु ८।१५)।

सब मनुष्यों को चाहिए कि धर्म से वेदादिशास्त्रों का पठन-पाठन, गायत्री प्रणवादि का अर्थ विचार, ध्यान, कर्मोपासना ज्ञान सत्योपदेश और योगाभ्यास आदि उत्तम कर्मों से इस शरीर को ब्रह्म सम्बन्धी करें (स० वि० २५३; मनु० ४।२४१)। अर्थात् इस जन्म को ब्रह्मसान्निध्ययुक्त करें। और (ग्र० क०) 'ओ३म्' पद वाच्य परब्रह्म परमात्मा की कृपा से और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ से परस्पर शरीर मन और आत्मा को प्राप्त होने वाला त्रिविध दुःख नष्ट हो जावे। और हम सब लोग प्रीति से एक दूसरे के साथ वर्त्तके धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सिद्धि में सफल हो, सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सबको आनन्द में रक्खें (स० वि० २६१)।

ईश्वर और धर्म दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्माचरण से मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध होता है, जिससे उसे इष्टदेव, परमदेव दर्शनीय ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है। जिसकी कृपा से जीव त्रिविध दुःखों और दशधा पापों से मुक्त होकर जन्ममरण के चक्र से निकल परमसुख को प्राप्त होता है (ग्र० क०)।

तृतीय अध्याय

उसकी राह पर

श्रेष्ठ, ज्ञानी, उन्नत व सुखी होने के लिए जीव को सर्वोपरि विराजमान (आर्याभिवि०) सृष्टिकर्त्ता चेतन दिव्य अखण्ड एकरस निर्विकार सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयालु परमेश्वर के साथ सम्बन्ध करना आवश्यक है (ग्र० क०) वह कौन-सा देव है और कहाँ है ? वह सबके भीतर व्यापक होके परिपूर्ण हो रहा है। उसी को तुम उपास्य पूज्य और इष्टदेव जानो (प० म० वि० २३)। इससे भिन्न और किसी को उपास्य इष्टदेव, उसके तुल्य, न उससे अधिक नहीं मानना चाहिये (स० वि० वेदा० सं० ६६)। क्योंकि:—

१. परमेश्वर की कृपादृष्टि और सहाय से ही महाकठिन कार्य भी सुगमता से सिद्ध हो सकते हैं (स० वि० २१६)।

२. उसी परमेश्वर की कृपा और उपासना से विश्व विद्या=(सम्यग्ज्ञान सर्वविध ज्ञान विज्ञान की उपलब्धि) की प्राप्ति हो सकती है (प० य० वि० २३)। और

३. ईश्वर की उपासना से उसका अनुग्रह प्राप्त होता है; जिससे व्याधि आदि विघ्न नहीं होते और बुद्धिवृत्तियों के अनुसार अनुभव करने वाले जीवात्मा को अपने वास्तविक शुद्ध, प्रसन्न तथा शरीरादि के सम्बन्ध से भिन्न स्वरूप का दर्शन भी हो जाता है। यही स्वरूप दर्शन ही परमात्मदर्शन में भी कारण बनता है (ऋ० वे० भू० उपा० वि० ४०५)।

४. उस परमेश्वर ही को यथावत् जानकर मनुष्य ज्ञानी होता है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार उसी कोजान के और प्राप्त होके जीव जन्म-मरण आदि क्लेशों व समुद्रसमान दुःख से (तथा सब पाप कर्मों से) छूटकर परमानन्द रूप मोक्ष को प्राप्त होता है। अन्यथा किसी प्रकार से मोक्ष सुख नहीं हो सकता। मोक्ष को देने वाला एक परमेश्वर के बिना कोई दूसरा नहीं है। व्यवहार और परमार्थ दोनों सुखों (भद्र प्राप्ति) का मार्ग एक परमेश्वर की उपासना और उसका जानना ही है; क्योंकि इनके बिना मनुष्य को किसी प्रकार से सुख नहीं हो सकता (ग्र० क०)।

इसलिए वह शक्ति जो सकल ब्रह्माण्ड का संचालन करती है; पृथिवी पर न्याय का प्रसार करती है; जिसकी दया वा सामर्थ्य से सब जीवों (मनुष्य एवं अन्य सब प्राणियों) के 'भोग' के निमित्त नाना प्रकार के पदार्थ भरपूर उत्पन्न होते हैं; सब मनुष्यों को उसी एक सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त श्रेष्ठ परमेश्वर की उपासना करनी उचित है (ऋ० भू० ३०३); उससे भिन्न की उपासना किसी को नहीं करनी चाहिए (स० प्र० १।६, १०, १३)। जो उसकी राह पर चलते हैं, उन्हें ही उस ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है; क्योंकि इसके अतिरिक्त परमेश्वर प्राप्ति का, ईश्वर सान्निध्य का, ब्रह्म-साक्षात्कार और मोक्षोपलब्धि का—कोई अन्य मार्ग नहीं है। "नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (ग्र० क०)।"

हे आनन्दनघन ! परमकारुणिक ! सर्वेश्वर प्रभो ! 'तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्मों (निष्काम पुण्यकर्मों) में सदा प्रवृत्त रखिये। क्योंकि आप ही कल्याण स्वरूप सब संसार के कल्याण-कर्त्ता और धार्मिक मुमुक्षुओं को कल्याणके दाता हैं, इसलिए आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित वृत्तियों, कि जिससे सब जीव धर्म (पुण्य सत्य, न्याय, सत्याग्रह, सर्वोदय) का आचरण और अधर्म (पाप, असत्य, अन्याय, दुराग्रह, सबको दुःख देना आदि) को छोड़ के परमानन्द को प्राप्त हों और दुःखों से पृथक् रहें।' (स० प्र० १।१२, १३)।

हे अन्तर्यामिन् ! आपका उपदेश है कि सब मनुष्य कर्तव्य-कर्म = धर्म (पुण्य, सत्कर्म) को ही अत्यन्त पुरुषार्थ से करें; अकर्त्तव्यकर्म = अधर्म (पाप दुष्ट कर्म) कभी न करें। आपकी स्तुति, आपका उपदेश, आपकी प्रार्थना और

उपासना तथा (इससे) आपका यह बड़ा अखण्ड साम्राज्य (परमैश्वर्य या परम-पद) प्राप्त करें और सर्वदा सब मनुष्यों का हित सर्वदा कहें, सुनें और आपके अनुग्रह से परमानन्द को भोगें (ऋ० २।८।१२।३; आ० वि० प्र० प्र० ५३)।

हे जगदीश्वर ! आपके सामर्थ्य से सब प्राणियों में परस्पर विद्वेष, विरोध अप्रीति न रहे; किन्तु तन, मन, धन, विद्या इन सबको परस्पर सबके सुखोपकार में परमप्रीति से लगावें। हे जगन्मंगलमय ! सब दुःखों से मुझको छुड़ाके, सब सुखों को प्राप्त करा। हे परमवैद्य ! सर्वथा मुझको सब रोगों से छुड़ा के परम नैरोग्य दे। (आ० वि० नि० प्र० १) हे शुद्धस्वरूप न्यायकारिन् ! सब पापों (पाप प्रवृत्तियों) का छुड़ाने वाला आपके बिना कोई भी इस संसार में नहीं, हमारे अविद्यादि सब पाप छुड़ाके शीघ्र हमको शुद्ध करो (आ० वि० हि० प्र० १६) और ज्ञानपूर्वक पाप करने से भी हमें रोक, जिससे हम शुद्ध हो आपकी सेवा (भक्ति) में स्थिर होवें। हे परम सहायक ईश्वर ! दुष्ट दोषों को स्वकृपा से छुड़ा के श्रेष्ठ काम आदि में यथावत् मुझको स्थिर कर। हे प्राणप्रिय, प्राणाधार ! मेरा सहायक आपके सिवाय कोई नहीं। हमको यथावत् न्यायप्रिय कर। हे धर्माधीश ! हमको धर्म में स्थिर कर। हे करुणामय पिता ! जैसे माता-पिता अपने सन्तानों का पालन करते हैं, वैसे ही आप हमारा पालन करो (आ० वि० सि० प्र० १)।

२. ईश्वर प्रत्यक्ष

जो आप्त धार्मिक विद्वान् संन्यासी 'ज्ञानप्रकाश युक्त' हैं कहते हैं कि हमें प्रजा (अर्थात् संसार) से कुछ भी प्रयोजन नहीं। क्योंकि हमें तो इस परमेश्वर को ही प्राप्त करना है और इसे देखना है। संन्यासी इस यथोक्त द्रष्टव्य परमेश्वर को ही चाहते हुए संन्यासाश्रम ग्रहण करते हैं (ऋ० वे० भू० संन्या० वि० ६१३)। और मुक्ति को प्राप्त कर जीव दर्शनीय परमात्मा में स्थिर होके मोक्ष सुख को भोगते हैं (स० प्र० ९।३१७)।

जो पुरुष धर्म को ही प्रधान समझता है और धर्म के अनुष्ठान से जिसका कर्त्तव्य पाप दूर हो गया है, उसको प्रकाश स्वरूप परम दर्शनीय परमात्मा को धर्म ही शीघ्र प्राप्त कराता है (स० प्र० ४।१३२)।

जिस पुरुष के समाधि योग से अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं, आत्मस्थ होकर जिसने परमात्मा में चित्त लगाया है, उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है। अष्टांग योग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वन्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिए जो जो काम करना होता है; वह-वह सब करना चाहिये (स० प्र० ७।२४३)।

यह ईश्वर का प्रत्यक्ष क्या है ? वह ईश्वर व्यक्ति अर्थात् आकृति……… और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है (स० प्र० १।२१)। क्योंकि वह निराकार है जो निराकार है, उसको किसने देखा (स० प्र० १३।६३०) जो देखने में आता है, वह व्यापक नहीं हो सकता (स० प्र० १४।७३८) और अगर किसी ने ईश्वर को प्रत्यक्ष देखा है और उससे मल्लयुद्ध किया,† तो यह बात बिना शरीर वाले के कैसे हो सकती है (स० प्र० १३। ६५१) ? और वह तो 'कभी जन्म न लेने वाला होने से अज है (स० प्र० १।१७)। अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता (स० प्र० ७।२३७)।

ईश्वर प्रत्यक्ष का अभिप्राय इस प्रकार है। 'शरीर स्थित जो जीव है, वह भी आकाररहित है। जीव का वैसा आकार न होते हुए भी सब परस्पर एक दूसरे को पहिचानते हैं और प्रत्यक्ष कभी न देखते हुए भी केवल गुणनवादों से ही सद्भावना और पूज्य बुद्धि परस्पर मनुष्यों के विषय में रखते हैं। उसी प्रकार ईश्वर के सम्बन्ध में भी (प्रत्यक्ष) हो सकता है,यह कहना ठीक है (उप० म० १।११)।'यों तो जैसे शरीर में भूख प्यास दर्द आदि कोई भी नेत्रों से दीखने वाली वस्तु नहीं, अनुभववेद्य हैं; इसी प्रकार परमात्मा भी अनुभव किये जाने वाला पदार्थ है। वह किसी भी इन्द्रिय का प्रत्येक विषय नहीं बन सकता।' वह केवल चेतन सत्ता है, अतः वह बाह्येन्द्रियों का विषय नहीं; परन्तु जीव

---

† जैसे किरातार्जुनीय के अनुसार अर्जुन ने शिव के साथ और बाइबिल के अनुसार याकूब ने ईश्वर के साथ (देखो प्र० प्र० १३।६५०-६५१)।

उसका आत्मप्रत्यक्ष (साक्षात्कार) करता है (ग्र० क०)। वह‥‥'सर्वज्ञ सर्वव्यापक प्रजा का साक्षी चित्त चेतन मन में विदित होता है (स० प्र० ७।२३९)।

इसलिये निराकार जीव के साथ जैसा लोक व्यवहार होता है, वैसा ही निराकार परमात्मा के विषय में समझना चाहिये (ग्र० क०)। कैसे ?

"जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, प्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और सुख-दुःख व सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। वह ज्ञान 'निर्भ्रम' (सन्देह शून्य, नि० संशयात्मक सत्व) होना चाहिये।"

"इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा चक्षु जिह्वा घ्राणेन्द्रियों से स्पर्श-रूप-रस और गन्ध गुणों का ज्ञान होने के पश्चात्, गुणी जो पृथिवी उसका आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है (स० प्र० ७।२३२); अर्थात् जैसे भूमि के रूपादि गुणों को ही चक्षुरादि इन्द्रियों से देख जान के गुणों से अव्यवहित सम्बन्ध से भूमि प्रत्यक्ष होती है (स० प्र० १२।५६१); वैसे ही इस प्रत्यक्ष सृष्टि में परमात्मा की रचना विशेष लिंग देखके व ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष होने से गुणी परमेश्वर का भी‥‥‥ शुद्धान्तःकरण, विद्या और योगाभ्यास से युक्त पवित्रात्मा पुरुष प्रत्यक्ष करता है (मिलाकर पढ़िये स० प्र० ७।२३२ और १२।५६१)। ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष‥‥का विचार यों है कि प्रत्यक्ष रीति से गुण का ज्ञान होता है; गुण का अधिकरण जो गुणी द्रव्य है, उसका ज्ञान प्रत्यक्ष रीति से नहीं होता। वैसे ही चेतन और अचेतन सृष्टि के द्वारा ईश्वर सम्बन्धी गुण का ज्ञान होता है। इसी पर से इस गुण का अधिकरण जो ईश्वर उसका भी प्रत्यक्ष रीति से ज्ञान होता है, ऐसा समझना चाहिये (उप० मं० १।१५)। जैसे कान से रूप और चक्षु से शब्द का ग्रहण नहीं हो सकता; वैसे ही शुद्धान्तःकरण विद्या, योगाभ्यास और विज्ञान के बिना परमात्मा नहीं दीखता (स० प्र० १२।५६१)। जीव और परमात्मा का विज्ञान (विदित होना स० प्र० ७।२३९; प्रत्यक्ष होना स० प्र० ७।२३२) गुण (रचना विशेष लिंग आदि) द्वारा होता है (स० प्र० ७।२५२)।

"और जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा

चोरी आदि बुरी बात या परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण आरम्भ करता है, उस समय जीव के इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाते हैं। उसी क्षण आत्मा के भीतर से (स० प्र० ७।२३३) जो पापाचरणेच्छा समय में झिझक (स० प्र० १२।५६१) वा बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा उत्पन्न होती है; तथा पुण्याचरणेच्छा समय में अर्थात् अच्छे कामों के करने में अभय निश्शंकता और आनन्दोत्साह उठता है। यह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु अन्तर्यामी परमात्मा की ओर से होता है। इससे भी परमात्मा प्रत्यक्ष होता है (मिलाकर पढ़िये स० प्र० ७।२३३ और १२।५६१)।

"और जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है अर्थात् जब समाधिस्थ होता है; तब उसको उसी समय दोनों अर्थात् अपना स्वरूप और परमात्मा प्रत्यक्ष होते हैं (स० प्र० ७।२३३)।

इसीलिये शास्त्रों में ब्रह्म या आत्मा को द्रष्टव्य या प्रत्यक्ष कहा है। 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः' अर्थात् आत्मा को देखना चाहिए। 'त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म असि' अर्थात् हे ब्रह्म ! तू प्रत्यक्ष है। 'यो विद्यात् ब्रह्म प्रत्यक्षम्' अर्थात् जो पुरुष साक्षात्कारता से ब्रह्म को जानता है (स० वि० २६०)।

३. नाम-स्मरण

जैसे परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव हैं, वैसे अपने भी करना ही परमेश्वर की स्तुति अर्थात् नामस्मरण है। जैसे वह न्यायकारी है, तो आप भी न्यायकारी होवे। और जो केवल भांड के समान परमेश्वर के गुण कीर्तन (अर्थात् नाम-स्मरण) करता जाता है और अपने चरित्र नहीं सुधारता; उसका स्तुति करना व्यर्थ है (स० प्र० ७।२३७)। उपासक को चाहिये कि 'सर्वदा सत्य' शास्त्रों को पढ़े पढ़ावें, सत्पुरुषों का संग करे और 'ओ३म्' इस एक परमात्मा के मुख्य नाम का अर्थ विचार कर नित्यप्रति जप किया करे। अपने आत्मा को परमेश्वर की आज्ञानुकूल समर्पित कर देवे (स० प्र० ७।२४३)।'

यद्यपि निर्मली वृक्ष का फल जल को शुद्ध करने वाला होता है, तथापि

उसके नाम ग्रहणमात्र से जल शुद्ध नहीं होता। किन्तु उसको ले पीस जल में डालने से ही उस मनुष्य का जल शुद्ध होता है; वैसे नाममात्र जाप करने से कुछ भी नहीं होता। उस-उस नाम के अर्थों के अनुसार धर्मयुक्त कर्म करने से ही नाम-स्मरण सफल होता है, अन्यथा नहीं(स० वि० २८० के अनुसार। वहाँ नाममात्र आश्रय धारण करने का निषेध है।) जैसे शक्कर-शक्कर कहने से मुख मीठा नहीं होता, वैसे ही सत्यभाषणादि कर्म किये विना राम ! राम !! कहने से कुछ भी फल नहीं होगा (स० प्र० ११।४८७)।

नवीन कल्पित तंत्र शास्त्र और पुराण ग्रन्थों में वर्णित नाना प्रकार के नाम-स्मरण अर्थात् राम-राम कृष्ण-कृष्ण को जो मुक्ति का साधन मान रक्खा है, वह सब मिथ्या ही जानना चाहिये, क्योंकि वेदादि सत्य ग्रन्थों में इनका कहीं चिह्न भी नहीं पाया जाता, किन्तु निषेध ही पाया जाता है (ऋ० भू० ग्रन्थ प्रा० वि० ७५३)।

इसी प्रकार 'नाम के माहात्म्य की अन्य बातें भी सच्ची नहीं हैं,...... क्योंकि (नाम जाप के माहात्म्य से) जो पाप छूट जाते हों, तो दरिद्रों को धन राजपाट, अन्धों को आँखें मिल जातीं, कोढ़ियों का कोढ़ आदि रोग छूट जाता; परन्तु ऐसा नहीं होता।.........सहस्रों कोस दूर से भी गंगा ! गंगा !! कहे, तो उसके पाप नष्ट होकर वह बैकुण्ठ को जाता है; 'हरि' इन दो अक्षरों का नामोच्चारण सब पापों को हर लेता है और इसी प्रकार राम, कृष्ण, शिव, भगवती (मुरारे, गोविन्द) आदि नामों का माहात्मय है; इनके मिथ्या होने में क्या शंका ? क्योंकि इनके नाम-स्मरण मात्र से पाप कभी नहीं छूटता। जो छूटे, तो दुःखी कोई न रहे और पाप करने से भी कोई न उठे।......मूढ़ों को विश्वास है कि हम पाप कर नाम-स्मरण करेंगे, तो पापों की निवृत्ति हो जावेगी। इसी विश्वास पर पाप करके इस लोक और परलोक का नाश करते हैं। किया हुआ पाप तो भोगना ही पड़ता है (स० प्र० ११।४३७, ४३८)। इन उपायों से पाप करके पाप के फल से बचने की प्रवृत्ति असत्य नीच कृत्य हैं। पाप करके पश्चात्ताप और फिर प्रायश्चित्त करके उस कर्म का फल प्रसन्नता से भोगना ही सज्जनों का लक्षण है (ग्र० क०)।

नाम-स्मरण मात्र से कुछ भी फल नहीं होता। जैसा कि मिशरी-मिशरी

कहने से मुख मीठा और नींम-नींम कहने से कड़वा नहीं होता; किन्तु जीभ से चखने ही से मीठा वा कड़वापन जाना जाता है।……पुराणों में लिखी (निरर्थक नामस्मरण) नाम लेने की रीति उत्तम नहीं; वह रीति झूठी है; वेद विरुद्ध है। वेदोक्त रीति से नामस्मरण इस प्रकार करना चाहिये (स० प्र० ११।४१२ तथा ११।४३८) :—

यस्य नाम महद्यशः (यजु० ३२।३)। जिस परमेश्वर का नाम (स्मरण) बड़े यश अर्थात् धर्मयुक्त कामों का करना है (स० प्र० ११।४३९), जिससे बड़े यश की प्राप्ति होती है। अर्थात् (ग्र० क०) उसकी आज्ञा का ठीक-ठीक पालन करना और उत्तम कीर्त्तियों के हेतु जो सत्यभाषणादि कर्म हैं, उनका करना ही नामस्मरण कहाता है (ऋ० वे० भू० ग्रन्थ प्रा० ७५३) जैसे;

ब्रह्म, परमेश्वर, ईश्वर, न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान् आदि नाम परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से हैं। इनमें

ब्रह्म = सबसे बड़ा, 'सर्वव्यापक'।

परमेश्वर = ईश्वरों का ईश्वर।

ईश्वर = सामर्थ्ययुक्त।

सर्वशक्तिमान् = अपने सामर्थ्य ही से सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय करने में किसी की सहाय नहीं लेने वाला।

ब्रह्मा = जगत् के विविध पदार्थों को बनाने वाला।

विष्णु = सब में व्यापक होकर रक्षा करने वाला।

महादेव = सब देवों का देव (स० प्र० २३०)।

रुद्र = प्रलय करने हारा।

दयालु = सब पर कृपादृष्टि रखने वाला।

न्यायकारी = कभी अन्याय न करने वाला।

सत्य = अविनाशी (प० म० वि० १०)।

आदि अनेक नाम परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से हैं। इन नामों के अर्थों को अपने में धारण करें। अर्थात्

बड़े कामों से बड़ा हो, सत्कर्मों से प्रसिद्ध यशस्वी हो;

ईश्वर अर्थात् समर्थों में समर्थ हो;

सामर्थ्यों को बढ़ाता जाय;

सब प्रकार के साधनों को समर्थ करे;

शिल्पविद्या से नाना प्रकार के पदार्थों को बनाने;

संसार में अपने आत्मा के तुल्य सबके सुख-दुःख को समझे, सब की रक्षा करे;

विद्वानों से विद्वान् होवे;

दुष्ट कर्म करने वालों को प्रयत्न से दण्ड देकर सज्जनों की रक्षा करे;

सब पर दया रक्खे;

जैसे पक्षपात रहित होकर परमात्मा सबका यथावत् न्याय करता है; वैसे उसको ग्रहण कर न्याययुक्त व्यवहार सदा करे, अधर्म अन्याय कभी न करे;

सदा मन वचन कर्म से एक जैसा रहे; (स० प्र० ११।४१२; ४३१)।

इस प्रकार परमेश्वर के नामों का अर्थ जानकर (स० प्र० ११।४३६) और नामों के अर्थों का स्मरण करते हुए (पं० म० वि० १०) परमेश्वर के गुण कर्मस्वभाव के अनुकूल अपने गुण कर्म स्वभाव को करते जाना ही परमेश्वर का नाम स्मरण है (स० प्र० ११।४३६)।

यदि मनुष्य उसके एक नाम के भी अर्थ को अपने में धारण करे, तो उस एक नाम के भी जाप या स्मरण से मनुष्य का महाकल्याण हो सकता है (ग्र० क०)।

———

चतुर्थ अध्याय

ईश्वरस्तुति प्रार्थनोपासना

जो ब्रह्म सबका द्रष्टा धार्मिक विद्वानों का परमहितकारक तथा सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्य स्वरूप से वर्तमान रहता है......उसी ब्रह्म को हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें; दिव्य और पुण्य कर्मों के लिये सौ वर्ष पर्यन्त जीवें; उसकी सत्यविद्यामय वेदवाणी को सुनें; उसी ब्रह्म का उपदेश करें और उसकी कृपा से किसी के आधीन न रहें। उसी परमेश्वर की आज्ञा पालन और कृपा से सौ वर्षों के उपरान्त भी हम लोग देखें और सुनें सुनावें और स्वतन्त्र रहें। अर्थात् हमारा अरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्धमन और आनन्द सहित आत्मा सदा रहे (प० म० वि० २६ के आधार पर) वही परमेश्वर 'मुक्ति की इच्छा करने वालों, मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है (प० म० वि०३०)' 'जो यह शुद्ध विज्ञान स्वरूप परमेश्वर है, उसको हम लोग सदा प्रेम भक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में भ्रमण करें, ताकि वह कृपा करके हमारी बुद्धियों को सब बुरे कामों =पापकर्मों, दुष्टकर्मों से अलग करके सदा उत्तम कामों=पुण्यकर्मों, सत्कर्मों में प्रवृत्त करे (व० म० वि० ३०)।

इसलिये सब लोगों को चाहिये कि सत्चित् आनन्दस्वरूप नित्य ज्ञानी, नित्य मुक्त अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, व्यापक, कृपालु सब जगत् के जनक और धारण करने हारे परमेश्वर ही की सदा उपासना करें कि जिसमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष जो मनुष्यदेह रूपी वृक्ष के चार फल हैं, वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वथा सब मनुष्यों को प्राप्त हों (म० म० वि० ३१)।

सब मनुष्यों को प्रतिदिन गायत्र्यादि मन्त्रों (और ईश्वर के ओ३म् आदि नामों) के अर्थ विचार पूर्वक परमेश्वर की,

स्तुति—अर्थात् ईश्वर के गुण और उपकार का जानना और वर्णन करना,
प्रार्थना—अर्थात् सब कामों में उस ईश्वर के सहाय की चाह,

उपासना—अर्थात् ईश्वर के गुण विचार पूर्वक उसका ध्यान और जड़ (प्रकृति) प्राणी जगत् (जीव) के गुणों से ईश्वर को पृथक् जान के उसका ध्यान करना, उसमें अपनी आत्मा को स्थिर करना चाहिये (प० म० व० १६)।

जो सुख स्वरूप जगदीश्वर·········सब सत्य सुखों की प्राप्ति कराने वाला है;······जिसका आश्रय करना ही मोक्ष सुख का कारण है और जिसकी अकृपा (अर्थात् जिसमें अविश्वास अश्रद्धा के कारण मनुष्य का पाप कर्म कर उसकी कृपा से वंचित रहना ही जन्म मरण दुःखों को देने वाली है,······उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये सत्य प्रेम भक्ति रूप सामग्री से हम लोग नित्य भजन करें (ऋ० भू० ई० प्रा० वि० ११; मनु : २५।१३)।

जो सर्व दिव्यगुण कर्म स्वभाव न्याययुक्त और जिसमें पृथ्वी सूर्यादि लोक स्थित हैं; जो आकाश के समान व्यापक सब देवों का देव परमेश्वर है; उसको जो मनुष्य न जानते, न मानते और उसका ध्यान नहीं करते; वे नास्तिक मन्दमति सदा दुख सागर में डूबे रहते हैं सर्वदा उसी को जानकर सब मनुष्य सुखी होते हैं (ल० य० ७।२२९-२३०)

जो पर ब्रह्म सब जगह में—सूर्य के प्रकाश के सब ओर से व्याप्त होने के समान परिपूर्ण एक रस भर रहा है; वही परमपदस्वरूप परमात्मा परमपद है। इसी की प्राप्ति होने से जीवन सब दुखों से छूटता है, अन्यथा जीव को कभी सुख नहीं मिलता। इससे सब प्रकार परमेश्वर की प्राप्ति में यथावत् प्रयत्न करना चाहिये (ऋ० १।२।७।५; आ० वि० प्र० प्र० २१)।

(क) स्तुति का लक्षण और फल

जो ईश्वर व किसी दूसरे पदार्थ के गुण कीर्तन कथन श्रवण और ज्ञान करना है तथा जैसे को तैसा अर्थात् योग्य को योग्य व अयोग्य को अयोग्य

कहना रूप सत्य भाषण करना है; वह स्तुति कहाती हैं (आ० उ० र० २१)। इसका अभिप्राय है कि—'जो गुण जिस-जिस पदार्थ में ईश्वर ने रचे हैं, (और वेद प्रतिपादित) शास्त्रों द्वारा सम्मत ईश्वर जीव प्रकृति के ग्र० क०) उन उन गुणों का लेख, उपदेश श्रवण और विज्ञान करना तथा मनुष्य सृष्टि के गुणदोषों का भी लेख आदि करना स्तुति कहाता है (ऋ० भू० वेदवि० वि० १४०)।*

पदार्थों के गुण कीर्तन कथन श्रवण और ज्ञान से ईश्वर व अन्य गुण वाले पदार्थों में जो प्रीति होती है तथा उनके गुण कर्मस्वभाव से अपने गुणकर्म सुधारना होता है, यह स्तुति का फल है (आ० उ० र० २१, २२; स्व० म० ४८; स० प्र० २३६, ७ स०)।

जो मिथ्याज्ञान, मिथ्याश्रवण, मिथ्याभाषण, असत्य में आग्रह आदि क्रिया है, जिससे किसी पदार्थ व व्यक्ति में गुण छोड़कर उनके स्थान पर अवगुण लगाना होता है तथा जो जैसा नहीं, उसे वैसा कथन करना है; वह निन्दा कहाती है (आ० उ० र० २३)।

(ख) प्रार्थना का लक्षण और फल

अपने सामर्थ्य युक्त पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से प्राप्तव्य उत्तम कर्मों व विज्ञानादि की सिद्धि के लिये परमेश्वर से याचना करना अथवा किसी सामर्थ्य वाले मनुष्य से सहायता लेने को प्रार्थना कहते हैं।

निरभिमानता, उत्साह, आत्मा में आर्द्रता, गुणग्रहण में पुरुषार्थ अत्यन्त-प्रीति व सहायप्राप्ति का होना प्रार्थना का फल है (आ० उ० र० २४, २५; स्व० म० ४६; स० प्र० ७स० २३६)।

---

*स्तुतिर्हि गुणदोषकीर्त्तनं भवति। यस्य पदार्थस्य मध्ये यादृशा गुणा वा दोषाः सन्ति, तादृशतामेवोपदेशः स्तुतिर्विज्ञायते (ऋ० भू० १३७)।

(ग) उपासना का लक्षण और फल

जैसे ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं; जैसे ही अपने करना; ईश्वर को सर्वव्यापक और अपने को व्याप्य, ईश्वर को उपास्य और अपने को उपासक, ईश्वर को जनक और अपने को उसकी सन्तान जानके ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, ऐसा निश्चय पूर्वक योगाभ्यास द्वारा साक्षात् करना; जिससे ईश्वर ही के आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मान करना होता है; उसको उपासना कहते हैं (आ० ब० र० २६; स्व० म० ५०)।

उपासना शब्द का अर्थ है, समीपस्थ होना। अष्टांगयोग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिए जो जो काम करना होता है;* वह वह सब करना चाहिये।.........जो उपासना का प्रारम्भ करना चाहे, उसके लिये यही आरम्भ है कि वह किसी से वैर न रखे, सर्वदा सबसे प्रीति करे; सत्य बोले, मिथ्या कभी न बोले; चोरी न करे, सत्य व्यवहार करे; जितेन्द्रिय होवे, लम्पट न होवे; और निरभिमानी हो, अभिमान कभी न करे (स० प्र० ७ स० २४२, २४३)। क्योंकि जब तक मनुष्य (इन) दुष्ट कामों से अलग रह कर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं बनाता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक वह कितना ही पढ़े वा सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। (इसीलिये) जो मनुष्य धर्माचरण से परमेश्वर और उसकी आज्ञा में अत्यन्त प्रेम से अरण्य अर्थात् शुद्ध हृदय रूपी वन में या एकान्त स्थान में स्थिरता के साथ निवास करते हैं, वे परमेश्वर के समीप वास करते हैं (ऋ० भू० उ० वि० ४३५)।

निरहंकार, आत्मसन्तोष, आत्मविश्वास, आशावादी मनोवृत्ति, उच्च-जीवन, सदापरोपकार में रत रहना, ज्ञान की उन्नति और परब्रह्म से मेल व उसका साक्षात्कार आदि उपासना का फल है (स० प्र० ७ स० २३६ के आधार पर)। उपासनायोग के आठ अंगों के अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय होने से तब तक ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होती है, जब तक जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त नहीं हो जाता (ऋ० भू० उ० वि० ४६३) ईश्वर की उपासना से उसके

अनुग्रह प्राप्त होता है; जिससे व्याधि आदि विघ्न······नहीं होते। और बुद्धि वृत्तियों के अनुसार अनुभव करने वाले जीवात्मा को अपने वास्तविक शुद्ध प्रसन्न तथा शरीरादि के सम्बन्ध से भिन्न स्वरूप का दर्शन भी हो जाता है। यही स्वरूपदर्शन परमात्मदर्शन में भी कारण बनता है (ऋ० भू० उ० वि० ४०५)।

(घ) आचरण शून्य ईश्वर पूजा से पापमोचन नहीं

परन्तु 'स्तुति प्रार्थना उपासना करने से ईश्वर अपना नियम छोड़कर पाप करने वाले का पाप नहीं छुड़ाता' (प्र० ७ स० २३६) ऐसा सब मनुष्यों को जानना योग्य है। इस प्रकार और (ग्र०क०) 'जो तोबा: से पाप क्षमा करने की बात है, वह सबको पापी करने वाली है (स० प्र० १४, ७५४)।' तथा पश्चात्ताप और प्रार्थना से पापों की निवृत्ति मानना दोष है। इसी बात से जगत् में बहुत से पाप बढ़ गये हैं। क्योंकि पुराणी लोग नामस्मरण और तीर्थादि से, यात्रा से, जैनी लोग नवकार मंच जाप से और तीर्थादि से, ईसाई लोग ईसा के विश्वास से और मुसलमान लोग तोबा करने से बिना भोग के पाप का छूटना मानते हैं। इससे पापों से भय न होकर पाप में प्रवृत्ति बहुत हो गई है। (स० प्र० ११, ५१२-५१३; १३ स० ६५७)। जो पाप क्षमा करने (पाप छुड़ाने) की बात है, वह केवल भोले लोगों को प्रलोभन देकर फंसाना है (स० प्र० १३, ६७०)।

२. सगुण निर्गुण स्तुति प्रार्थनोपासना

जो-जो गुण परमेश्वर में हैं, उनसे युक्त और जो-जो उसमें नहीं है, उससे पृथक् मानकर परमेश्वर की प्रशंसा करना सगुणनिर्गुणस्तुति;

शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और अपने दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना, सगुणनिर्गुणप्रार्थना और स्वकीय सब गुणों से सहित और जीव तथा प्रकृति के सब गुण दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आप

को उसके और उसकी आज्ञा के समर्पण कर देना सगुणनिर्गु णोपासना होती है (स्व० म० ५१);

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, संयोग-वियोग, हलका-भारी, अविद्या, जन्म-मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा निर्गुण ब्रह्म कहाता है। ऐसा जानकर जो उसकी उपासना करना है, उसको निर्गुणोपासना कहते हैं।

जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध-बुद्ध युक्त नित्यस्वभाव, आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, एक सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वान्तिर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सब जगत् का रचने वाला, न्यायकारी आदि सत्य गुणों से युक्त है, उसे सगुण ब्रह्म कहते हैं। ऐसा जानकर जो उसकी उपासना करता है, उसको सगुणोपासना कहते हैं (आ० उ० र० २८)।

३. स्तुति प्रार्थनोपासना का प्रकार*

(क) स्तुतिः—

"वह परमात्मा सबमें व्यापक, शीघ्रकारी और अनन्त बलवान्, शुद्ध, सर्वज्ञ, सबका अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, स्वयंसिद्ध है; और वह परमेश्वर अपनी जीवस्वरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है; इस प्रकार गुण से सहित परमेश्वर का गुणानवाद करना इसकी सगुणस्तुति है। (स० प्र० उ० स० २३७);‡ जैसे —

हे सच्चिदानन्द स्वरूप ! हे नित्य शुद्ध बुद्ध युक्त स्वभाव ! हे अद्वितीयानुपम अखण्डैकरस ! हे जगदादिकारण ! हे अज निराकार निर्विकार ! हे सर्वव्यापक सर्वशक्तिमन् ! हे दयालो न्यायकारिन् ! हे अनादि अनन्त ! हे जगदीश ! हे सर्वजगदुत्पादक, जगदाधार, जगद्संहारक ! हे सनातन, सर्वमंगलमय, सर्वस्वामिन् ! हे करुणामय परमपितः ! हे परमोपकारक परम सहायक इष्टदेव ! हे सर्वानन्दप्रद सर्वदुःखविनाशक ! हे अधमोद्धारक, पतितपावन, पाप

---

* आगे जो स्तुति प्रार्थना उपासना के प्रकार दिये हैं; उन्हें स्मरण कर लेना चाहिए और उसी प्रकार से 'स्तुति प्रार्थना उपासना' करनी चाहिये।

‡ यजु० ४०।८ विस्तार से अर्थ देखो आ० भि० द्वि० प्र० २।

विमोचक ! हे अविद्यान्धनिर्मूलक विद्यार्थप्रकाशक ! हे परमैश्वर्यदात: मोक्षप्रद ! हे निर्मल निरीह निरामय अपापविद्ध अव्रण अकाय शुद्धस्वरूप ! हे दीनदया कर दीनबन्धो ! हे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष साधक ! हे सर्वसिद्धिप्रद ! परात्पर परमात्मन परब्रह्मन् हे सर्वासर्वमिन् सर्वदृष्टा प्रभो हमारे लिये न्याययुक्त सुख देने वाले तुम ही हो ! हमको आपका ही आश्रय है। (आ० भि० प्र० स० ७-८) हे जगत् वन्द्य ! सब जगत् के आदिकारण होने की तरह परमविद्या वेद के आदि कारण भी तुम ही हो। हे सर्वहितोपकारक ! तुम सब जगत् के हितसाधक हो ! सब मनुष्यों के पूज्यतम हो ! सब जगत् को समस्त योगक्षेम के देने वाले हो ! हे मेरे प्राणप्रिय प्रभो ! हम बार-बार तुम्हारी स्तुति करते हैं; इसको स्वीकार करो। जिससे तुम्हारे कृपापात्र होके सदैव आनन्द में रहें।

"हे परमेश्वर ! भूतकाल-वर्तमान-भविष्यत् इन तीनों कालों के बीच में जो कुछ होता है, उन सब व्यवहारों को तू यथावत् जानता है; हे सर्वज्ञ रचयित: ! सब जगत् को अपने विज्ञान से ही तू जानता, रचता, पालता एवं लय करता है; संसार के सब पदार्थों का अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी है; सुख ही तुम्हारा केवल स्वरूप है, हे आनन्दघन ! जो तू मोक्ष और व्यवहार सुख को देने वाला है ज्येष्ठ = सबसे बड़ा, सब सामर्थ्य से युक्त ब्रह्म है (अथर्व० १०।८।१) वही तुम सब मनुष्यों से स्तुति के योग्य हो, (आ० वि० प्र० प्र० ४)।

"पृथिवी आदि पदार्थ जिस तेरे होने (अस्तित्व, सत्ता) और यथार्थज्ञान की सिद्धि होने का दृष्टान्त हैं तथा जिस तूने अपनी सृष्टि में पृथिवी को पादस्थानी रचा है; पृथिवी और सूर्य के बीच में का आकाश (अन्तरिक्ष) जिसने उदरस्थानी किया है; अपनी सृष्टि में दिव -- प्रकाशक पदार्थों को सबके ऊपर मस्तकस्थानी किया है; अर्थात् जो तू पृथिवी से लेकर सूर्यलोक पर्यन्त सब जगत् को रचके, उसमें व्यापक होके = जगत् के सब अवयवों में पूर्ण होके सबको धारण कर रहा है (अथर्व १०।७।३२); वही तुम सबके इष्टदेव हो (आ० वि० प्र० ४)।

"जिसने सूर्य और चन्द्रमा को नेत्रस्थानी किया है; जो तू कल्प-कल्प के आदि में सूर्य और चन्द्रमादि पदार्थों को बार-बार नये-नये रचता है; जिसने

अग्नि को मुखस्थानी उत्पन्न किया है (अथर्व० १०।७।३३); "ब्रह्माण्ड के वायु को प्राण और अपान की न्याईं किया है; प्रकाश करने वाली किरणों को चक्षु की नांई किया है, जिससे रूप ग्रहण होता है; दश दिशाओं को सब व्यवहारों को सिद्ध करने वाली बनाया है (अथर्व० १०।७।३४); हे कृपासिन्धो ! भगवन् ! हम सब मिलकर तुझको प्रसन्न करें ।

"जो तू जगदीश्वर आतमदा = अपनी कृपा से ही अपने आत्मा का विज्ञान देने वाला है (स० प्र०); बलदा, त्रिविधबल-एक मानस विज्ञान बल, द्वितीय-इन्द्रिय बल अर्थात् श्रोतादि की स्वस्थता, तेजोवृद्धि, तृतीय शरीर बल अर्थात् वैराग्य, महापुष्टि, दृष्टांगता और वीर्यादि वृद्धि इन तीन बलों का दाता है (आ० वि० द्वि० प्र० ४८ में); जिस तेरी उपासना और अनुष्टांगसत = वेदोक्त शिक्षा (मर्यादा, नियम) को सब विद्वान् और शिष्ट लोग यथावत् स्वीकार करते हैं; जिसे तेरा आश्रय (छाया) करना है । मोक्ष सुख और जिसका निराश्रय (त्याग, अकृपा, अछाया) ही बार-बार जन्म-मरण रूप दुःखों को देने वाला है; जो तू सुखस्वरूप और सब प्रजा का पति है । ऋ० भू० ७–११ सक) हे परमसहायक ! तू ही इन्द्रियों के साथ वर्तमान कर्मों के कर्त्ता भोक्ता हम जीवों का योग्य मित्र है। तू अन्तर्यामी है (आ० वि० प्र० प्र० २३) । हम सुबुद्धि युक्त होके उत्तम प्रकार से आपका स्तवन, स्तुति करें (आ० वि० प्र० प्र० ३५) ।

हे दिव्य तेज, स्वरूप परमात्मन् ! आप ही पूर्व सृष्टि और इस सृष्टि के विद्वानों द्वारा स्तुति के योग्य हो; आप ही सबके इष्टदेव हो (आ० वि० प्र० प्र० ४) । सर्वत्र व्यापक आपने ही सब जीवों को पाप तथा पुण्य का फल भोगने और सब पदार्थों के स्थित होने के लिए, पृथिवी से लेके सब लोकों और विद्यायुक्त वेद को बनाया है (आ० वि० प्र० प्र० ११) । हे प्राणप्रिय ! आपका स्वभाव हमको अत्यन्त सुखकारक है । आप हमको भद्र अर्थात् ऐहिक और पारमार्थिक इन दोनों सुखों का दान दीजिए, जिससे सब दुःख दूर हों, हम को सदा सुख ही रहे (आ० वि० प्र० प्र० ६) । हे परमपितः ! हम दीनों की पुकार सुनकर, जैसे पिता को पुत्र छोटी चीज समर्पण करता है और उस पर

पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसे आप हम पर प्रसन्न होवो। (आ० वि० प्र० प्र० ७)। हे सौम्य सौख्यप्रदेश्वर ! जैसे सूर्य की किरण, विद्वानों का मन और गौ आदि पशु अपने-अपने विषय और घासादि में रमण करते हैं एवं मनुष्य अपने घर में रमण करता है, वैसे ही आप सदा स्वप्रकाशयुक्त हो हमारे हृदय आत्मा, अन्तःकरण में रमण कीजिये (आ० वि० प्र० प्र० ३७)।

हे परमात्मन् ! परमैश्वर्यनाम् आपको हम हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें; यथावत् स्तुति करें; जिससे आपकी कृपा से हम लोगों का भी परमैश्वर्य बढ़ता जाय और हम परमानन्द को प्राप्त हों (आ० वि० प्र० प्र० ६)।

हे सज्जन मित्रो ! वही एक परम सुखदायक पिता है। आओ ! उस परमेश्वर देव की प्राप्ति के लिये हम सब जन मिल कर सत्य विश्वास प्रेम और भक्ति रूप सामग्री से नित्य भजन (स्तुति) करें यजु० २५।१३); जिससे यह लोगों को किसी प्रकार का दुःख कभी न हो। कभी उसको छोड़ के अन्य को उपास्य (स्तुत्य) न मानें। वही हमको निस्संदेह सब सुख देगा (ऋ० भू० ११ और (आ० वि० द्वि० प्र० ४८ मिलाकर)। हे कृपालो ! आपकी कृपा से हमारा पाप सब नष्ट हो जावे (आ० वि० प्र० प्र० २६), हे स्वस्तिक परमात्मन् ! हमारे सब दुःखों का नाश करके जैसे करुणामय पिता स्वपुत्रों को सुखी ही रखता है, वैसे हमें सदा सुखी रक्खो (आ० वि० द्वि० प्र० १५)।

वह परमेश्वर अकाय = कभी शरीर (अवतार) धारण वा जन्म नहीं लेता, क्योंकि वह अखण्ड अनन्त और निर्विकार है तथा उससे अधिक कोई पदार्थ नहीं; अव्रण = अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य निष्कम्प और अचल होने से जिसमें छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता; अस्नाविरम् नाड़ी आदि का बन्धन (स० प्र०) व प्रतिबन्ध (विरोध) भी जिसका नहीं हो सकता; अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर का कोई आवरण नहीं हो सकता; शुद्धम् - जिसमें क्लेश, दुःख, अज्ञान कभी नहीं होता (स० प्र०) अर्थात् वह परमात्मा सदैव निर्मल, अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृषादि दोषोपाधियों से रहित है*

---

* शुद्ध की उपासना करने वाला शुद्ध ही होता है, और मलिन का उपासक मलिन ही होता है (आ० वि० द्वि० प्र० २)।

अपापविद्धम् =वह कभी पापाचरण नहीं करता (स० प्र०) अर्थात् अन्याय नहीं करता, क्योंकि सदैव न्यायकारी है (यजु० ४०।८) के आधार पर, आ० वि० द्वि० प्र० २)·········इत्यादि जिस-जिस राग द्वेषादि गुणों से पृथक् मान कर परमेश्वर की स्तुति करना होता है, वह निर्गुण स्तुति है (स० प्र० ७ स० २३७)।

हे मनुष्यो ! सबमें पूर्णपुरुष और जो नाशरहित कारण है; जो पृथिव्यादि जड़ और जीव से अतिरिक्त है (यजु० ३९१४) (स० प्र० ८ स० २७३); जिस परमात्मा का अन्त (इतना यह है, इस प्रकार) अर्थात् जिसकी व्याप्ति का परिच्छेद (इयत्ता) परिभाषा कोई नहीं कर सकता; सूर्य···पृथ्वी आदि जिसके आदि अन्त को नहीं पाये, जो जगत् रूप कभी नहीं बनता और जो अपने में से जगत् को नहीं रचता; उसका पार कौन पा सकता है (ऋ० १।४।१४।४; आ० वि० प्र० प्र० १५) ? जिस परमात्मा के सामर्थ्य का विद्वान् साधारण मनुष्य, सूर्यादि इन्द्रियों, बुद्धि और आप प्राण वायु समुद्र आदि पार कभी नहीं पा सकते; जो इनमें व्यापक होके भी अतिरिक्त (इनसे विलक्षण) भिन्न ही परिपूर्ण हो रहा है (ऋ०।१।७।१०।५; आ० वि० प्र० प्र० ३३); जो किसी के वश में नहीं होता (ऋ० १।७।१०।२; आ० वि० प्र० प्र० ३४); जो सर्वथा पाप रहित है (आ० वि० द्वि० प्र० १९)···इसकी पूजा आत्मादि पदार्थों के समर्पण से यथावत् करें।······जो (व्यक्ति या देश) परमात्मा को छोड़ के उसके स्थान पर दूसरे की पूजा करता है, उसकी अत्यन्त दुर्दशा होती है।··· इससे चेतो ! जो तुमको सुख की इच्छा हो, तो एक निराकार परमात्मा की यथावत् भक्ति करो। अन्यथा कभी सुख न होगा (आ० वि० वि० प्र०)।

सब मनुष्यों को उचित है कि उस परमात्मा को अवश्य जानें। उसको कभी न भूलें, अन्य किसी को ईश्वर न मानें।······वह बड़ों से बड़ा है, उससे बड़ा वा तुल्य कोई कोई नहीं। वही आदि त्यादि का रचक है और प्रकाशक है; तथा वह स्वप्रकाश-स्वरूप है -······विद्वानों का ऐसा निश्चय है कि परब्रह्म के ज्ञान और कृपा के बिना कोई जीव कभी सुखी नहीं होता······उस परमेश्वर को जान के ही जीव मृत्यु को उल्लंघन कर सकता है, अन्यथा नहीं। परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के बिना मुक्ति का मार्ग कोई नहीं है।···

सब मनुष्यों को इसमें ही वर्तता चाहिये और सब पाखण्ड और जंजाल अवश्य छोड़ देना चाहिये (आ० वि० द्वि० प्र० ८; यजु० ३६।१८)।

हे कल्याण स्वरूप कल्याण कर ! मोक्ष सुख स्वरूप और मोक्ष सुख प्रदा तुझे नमस्कार है। सांसारिक सुख के करने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ। सब जीवों का कल्याण करने वाले, मन इन्द्रिय प्राण और आत्मा को सुख देने वाले. मंगलमय अत्यन्त शिवरूप आपको हम श्रद्धाभक्ति से नमस्कार करते हैं। जो जन ईश्वर को नमस्कार (उसकी स्तुति, गुण कीर्तन, प्रभु कथा श्रवण से उसका स्मरण) करता है, सो भी मंगलमय होता है (यजु० : १६।४१, आ. भि. द्वि. ९.२६)।

और जो केवल भाण्ड के (या ग्रामोफोन की प्लेट के) समान परमेश्वर के गुण कीर्त्तन करता जाता हैं और अपने चरित्र नहीं सुधारता अर्थात् परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार अपने नहीं बनाता—जैसे परमेश्वर को न्याय-कारी, दयालु, उपकारक जानकर भी स्वयं न्याय न करके पक्षपात से वर्त्तता है, दया न करके, क्रूर व्यवहार करता है, उपकार न करके जीवों के अपकार में तत्पर रहता है—उसका स्तुति करना व्यर्थ है (स. प्र. ७ स. २१७)।

(ख) प्रार्थना:

हे प्रकाशस्वरूप सर्वज्ञान परमेश्वर ! आपकी कृपा से जिस विज्ञानवती यथार्थ धारणा वाली बुद्धि को विद्वान् ज्ञानी और योगी लोग धारण करते हैं। तथा यथार्थ पदार्थ विज्ञान वाले पितर जिस बुद्धि के उपाश्रित होते हैं, उसी बुद्धि से युक्त हम को इसी वर्त्तमान समय में मेधावी कीजिये (यजु: ३२।१४; स० प्र० ७ स २३८ तथा आ० वि० द्वि० प्र० ५३ तथा ऋ० भू० ३५२ के आधार पर)।

हे स्व प्रकाश ! अनन्ततेज ! आप अविद्यान्धकार से रहित हो, किंतु सत्यविज्ञान तेज: स्वरूप हो; कृपादृष्टि से मुझमें भी वही तेज प्रकाश धारण

कराइये, जिससे मैं निस्तेज दीन और भीरु कहीं कभी न होऊँ। हे अनन्तवीर्य परमात्मन् ! आप वीर्यस्वरूप हैं, मुझमें शक्ति की स्थापना कीजिये। हे सर्व-शक्तिमान् ! आप अनन्तबल युक्त हैं (ग्र० क०) मुझमें भी सर्वोत्तम बल को स्थिर कीजिये। हे अनन्तपराक्रम ! आप ओजः अनन्त सामर्थ्ययुक्त हैं; मुझ में भी पूर्ण सामर्थ्य सदैव धारण करायें। हे न्यायकारिन् ! आप दुष्टकाम और दुष्टों पर मन्यु (=बुद्धि युक्त क्रोध) करने वाले हैं, मुझमें भी वही मन्यु धारण कराओ। हे अनन्तसहनस्वरूप ! आप निन्दा, स्तुति और स्व अपराधियों का सहन करने वाले हो, कृपा करके मुझको भी वैसा ही कीजिये, मुझ में भी सहन सामर्थ्य धारण कराइये (यजुः १८।६; स० प्र० ७ स० २३६; आ० वि० रि० प्र० ६ तथा ऋ० भू० ३५० मिलाकर)।

हे दयानिधे ! जो मेरा मन आत्मा का मुख्यसाधक और दिव्य गुणयुक्त है; मुझ जागते हुए का दूर-दूर जाना है और सोते हुए का दूर-दूर जाने के समान व्यवहार करता है अथवा सुषुप्ति को प्राप्त होता है; जो दूरगमनशील है; शरीर की प्रकाशक चक्षु श्रोत्रेन्द्रियादि का प्रकाशक* (यजु० ३४।१); कर्म करने वाले धर्मयुक्त विद्वान् लोग यज्ञ और युद्धादि में जिससे सर्वविध कर्म करते हैं; जो अपूर्व सामर्थ्ययुक्त, पूजनीय और प्रजा के भीतर रहने वाला है (यजुः ३४।२); जो उत्कृष्ट ज्ञान दूसरे को जिताने हारा निश्चयात्मक वृत्ति है; जो प्रजाओं के भीतर प्रकाशयुक्त और नाशरहित है; जिसके बिना कोई कुछ भी कर्म नहीं कर सकता (यजुः ३४।३); हे जगदीश्वर ! जिससे योगी (योग-युक्तात्मा) जन भूत भविष्यत् वर्तमान के व्यवहारों को जान सकते हैं अर्थात् जो नाशरहित जीवात्मा को परमात्मा के साथ मिला के उसे सब प्रकार से त्रिकालज्ञ करता है; जिससे पंचज्ञानेन्द्रिय बुद्धि और आत्मायुक्त उस योगरूप यज्ञ को बढ़ाते हैं (यजुः ३४।४); हे परम विद्वान् परमेश्वर ! जिस मेरे मन में रथ के मध्यधुरा में लगे आरे की तरह ऋग् यजु साम् और अथर्व० प्रति-ष्ठित हैं; जिसमें प्रजा का साक्षीभूत सर्वत्र सर्वव्यापक चेतन चित्त विदित होता है; हे सर्व नियन्ता ईश्वर ! उत्तमसारथी जैसे रस्सी से वेगवान् घोड़ों को इधर

---

*तथा देखो आ० वि० द्वि० प्र० और ४३ ऋ० भू० ३५६।

उधर ले जाता है, वैसे ही जो मनुष्यों को इधर उधर (लोक, परलोक = जन्म मरण के चक्र में) हिलाता है (यजुः ३८।६) वह मेरा मन शिवसंकल्प अर्थात्—

१. अपने और दूसरे प्राणियों के अर्थ कल्याण का संकल्प करने वाला होवे। किसी की हानि करने की इच्छायुक्त कभी न होवे।

२. धर्म करने की इच्छायुक्त होकर अधर्म को सर्वथा छोड़ देवे।

३. शुद्ध गुणों की इच्छा करके दुष्ट गुणों से पृथक् रहे।

४. विज्ञान युक्त होकर अविद्यादि क्लेशों से पृथक् रहे।

५. अविद्या का अभाव कर विद्याप्रिय सदा रहे।

६. सब इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोक के धर्मपथ में सदा चलाया करे (स० प्र० ७ स० २३८-२४०)।

हे सर्वशक्तिमन् भगवन्! आपकी भक्ति और कृपा से, सूर्यादि लोकों का प्रकाश एवं ज्ञान, आकाश, पृथिवी, जल, औषधि, वृक्षवनस्पति, संसार के सब विद्वान्, ब्रह्म अर्थात् वेद ज्ञान ये सब पदार्थ हमको सब काल में शान्त निरुपद्रव और सुखदायक हों; सब पदार्थ सब दिन हमारे अनुकूल रहें। हे सर्व दुःखों की शान्ति करने वाले प्रभो! आप की दया से ऐसी शान्ति प्राप्ति हो, जिससे हमको विद्या, बुद्धि विज्ञान आरोग्य और सब उत्तम सहाय मिले और जिससे सब संसारस्थ जीव शान्त, क्रोधादि दुष्ट गुणों के उपद्रवों से रहित होवें। हम लोगों और सब जगत् को उत्तम गुण और सुख के दान से बढ़ाइये (यजुः ३६।१७; ऋ० भू० १२ तथा आ० भि० प्र० २५)। शान्तिः शान्तिः शान्तिः। हे शान्तिदायक आनन्दघन! हमें त्रिविधताप अर्थात् आध्यात्मिक (= शारीरिक मानसिक), आधिभौतिक (शत्रु व्याघ्र और सर्पादि अर्थात् दूसरे प्राणियों से प्राप्त होने वाले) और आधिदैविक (= दैवगति से होने वाले) इन तीन प्रकार के क्लेशों से दूर करके कल्याण कारक कर्मों में सदा प्रवृत्त रखिये (स० प्र० १ स० १३)।

हे परमेश्वर! आप जिस-जिस देश से जगत् के रचने और पालने के

अर्थ चेष्टा करते हैं, उस-उस देश से हमें भय से रहित करिये। किसी देश से हमको किंचित् भी भय न हो। आपकी प्रजा में जो मनुष्य और पशु आदि सब दिशाओं में हैं, उनसे भी हमको भयरहित करिये। हमसे उनको भय न हो, सदा सुख हो; उनसे हमको भय न लगे, सदा सुख लाभ हो (ऋ० भू० १३)। हे परमेश्वर दयालु! किसी से किसी प्रकार का भय हम लोगों को आपकी कृपा से कभी न हो। जिससे हम लोग निर्भय होके सदैव परमानन्द को भोगें और आपकी भक्ति करें (अ० भि० वि० ७) (यजु: ३६।२२)।

हे देवेश्वर: दिव्य गुण युक्त बनने के अभिलाषी हम लोग कानों से सदैव भद्र (कल्याण) को ही सुनें; अकल्याण (किसी की बुराई निन्दा अपकार) की बात भी हम कभी न सुनें। हे यजनीमेश्वर! यज्ञमय जीवन बिताने के अभिलाषी हम आँखों से कल्याण (मंगल सुख) को ही सदा देखें। हे सर्व बल-प्रदात: जगदीश्वर! हमारे अंग उपांग (श्रोतादि इन्द्रिय तथा नस नाड़ी आदि उपांग) स्थिर दृढ़ रहें; जिससे कि हम लोग स्थिरता से आपकी स्तुति और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान सदा करें; जिससे हमें आत्मा-शरीर-इन्द्रिय और विद्वानों की हितकारक आयु हमें प्राप्त हो। अर्थात् हम सदा सुख में ही रहें (यजु: २५।२१; आ० भि० द्वि० प्र० २७)।

हे सुख के दाता, स्व प्रकाशस्वरूप, सब को जानने वाले परमात्मन्! आप हमको श्रेष्ठ मार्ग से सम्पूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराइये। जो हममें कुटिल पापाचरण रूप मार्ग हैं, उससे पृथक् कीजिये। हम लोग नम्रतापूर्वक आपकी बहुत सी स्तुति (प्रार्थना) करते हैं (यजु: ४०।१६; स० प्र० ७ स० २४०)।

हे उत्तम ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर! अपनी कृपा से श्रोत्र आदि उत्तम इन्द्रिय और श्रेष्ठ स्वभाव वाले मन को मुझ में स्थिर कीजिये, अर्थात् हमको उत्तम गुण और पदार्थों सहित सब दिन के लिये कीजिये। हे परमधन ईश्वर! उत्तम राज्य आदि धन वाले हमको सदा के लिये कीजिये। मनुष्यों के लिये ईश्वर की यह आज्ञा है कि हे मनुष्यो। तुम लोग सब काल में सब प्रकार से उत्तम गुणों का ग्रहण और उत्तम ही कर्मों का सेवन सदा करते रहो। हे भगवान्!

आपकी कृपा से हम लोगों की सब इच्छायें सर्वदा सत्य ही होती रहें; हमारी सदा सत्य ही कर्म करने की इच्छा हो; साथ ही चक्रवर्त्ती राज्य स्थापन आदि बड़े-बड़े काम करने की योग्यता हमारे बीच में स्थिर कीजिये (यजुः २।१०; ऋ० भू० ३५१)।

हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर भगवन् ! (इषे०) हमारे शरीरों को उत्तम अन्न से सदा पुष्टि युक्त रखिये, बिना अन्न के दुःखी हम लोग कभी न हों। हे महाबल ! (उर्जे०) हमको सदा उत्तम पराक्रम युक्त और दृढ़प्रयत्न वाले कीजिये। हे सर्वार्थवित् ! (ब्रह्मणे०)सत्यशास्त्र=वेदविद्या के पढ़ने पढ़ाने और उससे यथावत् उपकार लेने में हमको अत्यन्त समर्थ कीजिये। हे महाराजाधिराज ! (क्षत्राय) हमें अखण्ड चक्रवर्त्ति राज्य, के लिये शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और शूरवीर पुरुषों से युक्त कीजिये* अन्य देशवासी राजा किसी देश में कभी न हो, हम लोग पराधीन कभी न हों। हे स्वर्ग पृथिवीश ! परमोत्कृष्ट मोक्ष सुख और संसार सुख के लिये हमको समर्थ करा अर्थात् जैसे पृथिवी, सूर्य, अग्नि, जल और वायु आदि पदार्थों से जगत् का प्रकाश और उपकार होता है, वैसे ही कला कौशल विमान आदि यान चलाने के लिये हमको उत्तम सुखसहित कीजिये, जिससे हम लोक सब सृष्टि के उपकार करने वाले हों। हे सुधर्मन् ! न्याय करने वाले धर्मशील ईश्वर ! आप न्यायकारी धर्मकारी धर्मस्वरूप हैं, हमको भी न्यायकारी धर्मात्मा कीजिये। हे शुद्धस्वरूप स्नेहसुधावर्षक ईश्वर ! जैसे आप निर्वैर होके सब से वर्त्तते हैं, वैसे ही सबसे वैर रहित हमको भी कीजिये। हे परमकारुणिक सर्वक्षतः ! हमारे लिये उत्तम राज्य, विद्या पुरुषार्थ हस्ती अश्व सुवर्ण हीरादि रत्न रूप उत्तम धन, उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि शुभगुणों को धारण कराइये, जिससे हम लोग किसी पदार्थ के अभाव से दुःखी न हों। हे सर्वाधिपते ! (प्रत्येक देश में) पूर्णविद्या सद्गुण ब्राह्मण, बुद्धि विद्या तथा रक्षण शौर्यआदिगुण युक्त क्षत्रिय, अनेक भाषा विद्या उद्यम तीव्र-बुद्धि धनधान्यादि वस्त्रयुक्त वैश्य और सेवादिगुण युक्त शूद्रादि भी सब स्वदेशभक्त हों। इन सबका धारण आप ही करो; जिससे अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आपकी कृपा से सदा बना रहे

और हम शुभगुण वाले होकर अत्यन्त पुरुषार्थी हों (यजुः ३८।१४) (ऋ. भू. ३५७ तथा आ. वि. द्वि. प्र. ३१ मिलाकर देखो)।

हे परमगुरो परमात्मन् ! आप हमको असत् मार्ग से पृथक् कर सन्मार्ग प्राप्त कराइये; अविद्यान्धकार को छुड़ा के विद्यारूप सूर्य को प्राप्त कराइये; मृत्यु रोग से पृथक् करके मोक्ष के आनन्दरूप अमृत को प्राप्त कराइये (शतपथ ब्राह्म० १४।३।१।३०; स० प्र० ७ स० २४०-२४१)।

सबसे उत्तम मोक्षसुख से लेके अन्न, जल पर्यन्त सब पदार्थों की याचना (प्रार्थना) मनुष्यों को केवल ईश्वर ही से करनी चाहिये (ऋ० भू० ३५६)। अर्थात् क्योंकि यह सब जीव को उस ईश्वर की व्यवस्था से ही प्राप्त होते हैं, इसलिए इन सबकी प्राप्ति के लिए उसी का आश्रय स्वीकार करना चाहिये और इसके लिये उत्तम पुरुषार्थ करना चाहिये (ग्र० क०)। आओ भाई मित्रो ! हम सब प्रीति से मिल कर उस परमानन्त बल वाले परमात्मा को सखा होने के लिए अत्यन्त प्रार्थना से गद्गद होकर पुकारें (१।७।१८।४; आ० वि० प्र० प्र० ४४)।

इस प्रकार जिस-जिस दोष या दुर्गुण (वा जीव प्रकृति के विशेष गुणों) से परमेश्वर और जिस-जिस दोष या दुर्गुण (वा ब्रह्म प्रकृति के विशेष गुणों) से अपने को भी पृथक् मान के परमेश्वर की प्रार्थना की जाती है, वह प्रार्थना विधि-निषेध मुख होने से सगुण-निर्गुण प्रार्थना होती है।……

जो मनुष्य जिस बात की प्रार्थना करता है, उसको वैसा ही वर्तमान (व्यवहार, चाल-चलन प्रवर्त्तन) करना चाहिए। अर्थात् जैसे यदि कोई मनुष्य सर्वोत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिये परमेश्वर की प्रार्थना करे, तो उसके लिये जितना अपने से प्रयत्न हो सके उतना किया करे। अभिप्राय यह है कि अपने पुरुषार्थ के उपरान्त ही प्रार्थना करनी योग्य है।

ऐसी प्रार्थना कभी न करनी चाहिये और न परमेश्वर कभी उसको स्वीकार करता है; जैसे कि—"हे परमेश्वर ! आप मेरे शत्रुओं का नाश, मुझ को सबसे बड़ा, मेरी ही प्रतिष्ठा हो और सब मेरे आधीन हो जायें ····" इत्यादि। क्योंकि जब दोनों शत्रु एक दूसरे के नाश के लिए प्रार्थना करें, तो

क्या परमेश्वर दोनों का नाश कर दे ? यदि कोई कहे कि जिसका प्रेम अधिक उसकी प्रार्थना सफल हो (सुन ली) जावे; तब हम कह सकते हैं कि जिसका प्रेम न्यून हो उसके शत्रु का भी न्यून नाश होना चाहिये। ऐसी मूर्खता की प्रार्थना करते-करते कोई ऐसी भी प्रार्थना करेगा—"हे परमेश्वर ! आप हमको रोटी बना कर खिलाइये, मेरे मकान में झाड़ू लगाइये, वस्त्र धो दीजिये औ खेती-वाड़ी भी कीजिये।" इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं, वे महामूर्ख हैं। क्योंकि जो परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है; उसको जो कोई तोड़ेगा, वह सुख कभी नहीं पावेगा (स० प्र० ७ स० २४१) ......जैसे पुरुषार्थ करते हुए पुरुष का सहाय दूसरा भी करता है, वैसे धर्म से पुरुषार्थी पुरुष का सहाय ईश्वर भी करता है; जैसे देखने की इच्छा करने पर नेत्र वाले को ही दिखलाते हैं, अन्धे को नहीं। इसी प्रकार परमेश्वर भी सबके उपकार करने की प्रार्थना में सहायक होता है, हानिकारक कर्म में नहीं। जो कोई गुड़ मीठा है, ऐसा कहता है (परन्तु उसके लिये यत्न नहीं करता); उसको गुड़ का लाभ वा स्वाद प्राप्त कभी नहीं होता। और जो यत्न करता है, उसको शीघ्र वा विलम्ब से गुड़ (और उसका स्वाद) मिल ही जाता है (स० प्र० ७ स० २४२)।

(ग) उपासना—

जब-जब मनुष्य लोग ईश्वर की उपासना करना चाहें, तब-तब इच्छा के अनुकूल एकान्त स्थान में बैठकर अपने मन को शुद्ध और आत्मा को स्थिर करें। सब इन्द्रिय और मन को सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त, सर्वान्तर्यामी और न्यायकारी परमात्मा की ओर अच्छी प्रकार से लगा कर, (उसके गुण-कर्म-स्वभाव और यथार्थ रूप का) सम्यक् चिन्तन स्तुति और शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आत्मा में बल की प्रार्थना) करके, उसमें अपने आत्मा को नियुक्त करें। अर्थात् उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना को बार-बार करके अपने आत्मा को भली-भांति उसमें लगा दें।......

उपासना के समय परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य विषय से और व्यवहार के समय सब अधार्मिक व्यवहारों से अपने मन की वृत्ति को सदा रोकना

चाहिये; यही योग है। इससे विपरीत परमेश्वर से दूर होने और उसकी आज्ञा के विरुद्ध बुराइयों में फँसने को नियोग कहते हैं।……

जैसे जल के प्रवाह को एक ओर से दृढ़ बांध से रोक देने पर, वह जिस ओर नीचा होता है, उसी ओर चल के स्थिर हो जाता है; वैसे ही जब मन की वृत्ति वाहर के व्यवहारों से हटा के स्थिर की जाती है, तब वह सर्वज्ञ परमेश्वर में स्थिर हो जाती है। (ऋ० भू० ३८९, ३९० तथा ४५०-४५४ यक; स० प्र० ७ स० २४३)।

उपासना शब्द का अर्थ है, समीपस्थ होना (स० प्र० ७ स० २४२); जीव का ईश्वर के समीप होना अर्थात् जब (ग्र० क०) जो जीव परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के अनुकूल अपने गुण-कर्म-स्वभाव करता है; वही साधर्म्य से उस सर्वज्ञ सर्वव्यापी पारब्रह्म के साथ एकता कर सकता है (स० प्र० ७ स० २५४) उस समय समाधि दशा में योगी को परमेश्वर का प्रत्यक्ष होता है (स० प्र० ७ स० २५५)।

इस प्रकार 'समाधियोग से जिस पुरुष के अविद्यादि मल नष्ट हो गये हैं; आत्मस्थ होकर परमात्मा में जिसने चित्त लगाया है; उसको जो परमात्मा के योग का सुख होता है, वह वाणी से कहा नहीं जा सकता। क्योंकि उस आनन्द को जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ग्रहण करता है (स० प्र० ७ स० २४२)।

वह परमेश्वर सर्वव्यापक, शुक्र, अर्थात् जगद्रचयिता सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, कवि, मनीषी, परिभूः, स्वयम्भू इत्यादि रूप से गुणों के सहित होने के कारण सगुण है। अकाय, अव्रण, अस्नाविर और अपापविद्ध इत्यादि रूप से गुणों के निषेध होने के कारण निर्गुण है कहाता है (ओं सपर्यगात् यजुः, के अनुसार ऋ० भू० ८३९; स० प्र० ; आ० वि० द्वि० प्र० २)। इसी प्रकार 'वह एकदेव, सर्वभूतों में गूढ़, सर्वव्यापी, सर्वभूतान्तरात्मा, सर्वाध्यक्ष, सर्वभूतों का आश्रय, चराचर जगत् का साक्षी और केवल चेतन होने से सगुण और निर्गुण अर्थात् जीव और प्रकृति के गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण समझा जाता है (श्वेता० उप० ६।११; ऋ० भू० ४३९ में)।

ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, शुद्धता, समानता, न्यायकारिता, दयालुता, सर्वव्यापकता, सर्वाधारता, मंगलमयता, सर्वोत्पादकता, सर्वस्वामित्व=सर्वाधिष्टातृत्व इत्यदि सत्यगुणों से उसकी [ज्ञानपूर्वक] उपासना को सगुणोपासना कहते हैं (ऋ० भू० ४३९; स० प्र० सि० २४३)।

वह परमेश्वर अजन्मा अर्थात् कभी जन्म नहीं लेता; निराकार अर्थात् आकार वाला कभी नहीं होता; अकाय अर्थात् शरीर कभी धारण नहीं करता, अव्रण अर्थात् उसमें छिद्र कभी नहीं होता; (क्योंकि वह सब पदार्थों में व्याप्त होकर परिपूर्ण हो रहा है, वह अखण्ड निर्विकार है); वह द्वेष तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धवाला कभी नहीं होता; उसमें दो-तीन आदि संख्या की गणना नहीं बन सकती, वहलम्बा चौड़ा, हलका-भारी (छोटा बड़ा) कभी नहीं होता; इत्यादि-इत्यादि गुण-निवारण पूर्वक उस परमात्मा का स्मरण (चिन्तन, ध्यान) करते हुए अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर बाहर व्यापक परमेश्वर में दृढ़ स्थित हो जाना निर्गुण उपासना कहते हैं (स० प्र० ७ स० २४४; ऋ० भू० ४३९)

इसलिये जो अज्ञानी मनुष्य यह कहते हैं कि ईश्वर देह धारण करने स सगुण और देह-त्याग करने से निर्गुण है; यह उनकी कल्पना सब वेद शास्त्रों के प्रमाणों और (ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द पर्यन्त) विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी नहीं माननी चाहिये। परन्तु सबको पूर्वोक्त रीति से ही करनी चाहिये (ऋ० भू० ४३९;)

इस उपासना का फल—जैसे शीत से आतुर पुरुष का शीत अग्नि के पास जाने से निवृत्त हो जाता है, वैसे परमेश्वर के समीप प्राप्त होने से सब दोष और दुःख छूटकर परमेश्वर के गुणकर्म स्वभाव के सदृश जीवात्मा के गुण कर्म स्वभाव पवित्र हो जाते हैं।

सब भूत, आकाश और प्रकृति से लेके पृथिवी पर्यन्त संसार में जो परमेश्वर व्याप्त होके पूर्ण भर रहा है, जिसके बिना एक कण भी खाली नहीं; जीव को चाहिए कि अपने आत्मा से अत्यन्त सत्याचरण, विद्या, श्रद्धा, भक्ति से, उस यथार्थ सत्यस्वरूप परमात्मा को यथावत् जानके, उसके निकट उप-

स्थित=प्राप्त=अभिमुख होके उस परमानन्द स्वरूप परमात्मा में प्रवेश करके सब दुःखों से छूट (आ० वि० द्वि० प्र० १०) उसमें स्वतन्त्रता से विचरता हुआ महाकल्प पर्यन्त सुख ही सुख को भोगे (स० प्र० ६ समु०)।

परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना सबको अवश्य करनी चाहिए इससे दुःख निवृत्ति एवं परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश जीव के हो जाने के अतिरिक्त आत्मा का बल इतना बढ़ेगा कि पर्वत के समान दुःख प्राप्त होने पर भी उपासक न घबरावेगा और सबको प्रसन्नता से सहन कर सकेगा। और जो परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना-उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख भी होता है। क्योंकि जिस परमात्मा ने इस जगत् के सब पदार्थ जीवों को सुख के लिए दे रक्खे हैं, उसका गुण भूल जाना और ईश्वर ही को न मानना कृतघ्नता और मूर्खता है (स० प्र० ७ सं० २४२)।

पंचम अध्याय

अष्टांगयोगमार्ग

अर्थात्

चरित्र निर्माण की वैज्ञानिक पद्धति

★

इस चर-अचर जगत् में समस्त जीवधारी प्राणियों के आवागमन का उद्देश्य अपने शुभाशुभ कर्मों के सुखदुःखात्मक फलों को भोग कर मोक्ष प्राप्त करना है।

समस्त जीवधारी 'पंच जन' कहाते हैं; अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कृमि-कीटादि और स्थावर वृक्ष आदि भेद से प्राणियों के पाँच प्रकार हैं। इनमें मनुष्य विवेकशील और सामाजिक प्राणी है। जहाँ अन्य योनियाँ भोग-योनियाँ हैं, वहाँ मनुष्ययोनि भोगयोनि भी है और कर्मयोनि भी। इसका यह अभिप्राय है कि पूर्वजन्म में कृत शुभाशुभ कर्मों का सुखदुःखात्मक फल भोगता है और लोक-परलोक में (अभ्युदय) सुखैश्वर्य प्राप्ति तथा निःश्रेयसावस्था में स्वतन्त्रता से सुख ही सुख भोगने के लिये इस वर्त्तमान जन्म में सत्कर्मोंका सम्पादन करता है। इसी सत्कर्म सम्पादन का नाम चरित्र निर्माण करना है।

क्योंकि जीव कर्म करने में स्वतंत्र है; इसलिये उसके लिये 'धर्माधर्म' शुभाशुभ 'पाप पुण्य और कर्त्तव्याकर्तव्य आदि का विवेक आवश्यक है। वर्तमान नतिशास्त्र में इसी का नाम 'मानवधर्म' या मानवचरित्र है। साथ ही मानव

देहचारी इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये अपने जीवन का उद्देश्य नियत करता है और जीवन में उस चरित्र का अनुष्ठान करता है।

मानव जीवन का उद्देश्य धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चार पुरुषार्थों (चतुर्वर्ग) की प्राप्ति करके आनन्दभोगना है। इस प्रकार के जीवन की प्रवर्त्तना का नाम ही चरित्र-निर्माण है। धर्माचरण से, अर्थकाम का उचित उपभोग करके यथासमय इनका मोह त्याग करके 'सुख ही सुख' का लाभ करना अर्थात; ईश्वर के समीप पहुँचना।

ऐसा कौन-सा मार्ग है; जिससे इस लक्ष्य की सिद्धि सरलता से हो जावें अर्थात् मनुष्य को जीवन में कैसे चरित्र का आचरण करना चाहिए, जिससे कि वह मोक्ष को, सुख ही सुख को प्राप्त हो ?

वह अष्टांगयोग मार्ग है। अगर इसका पालन प्रारम्भ से ही बालक को कराया जावे, तो बालक सदाचारी ही बनेगा। सदाचार या सच्चरित्रता का अभिप्राय है, दुःखपाप शून्य जीवन बिताना। उसका ट्रेनिंगकोर्स है यह।

महर्षि दयानन्द ने जहां संसार पर अन्य महान् उपकार किये हैं, उनमें ये दो मुख्य हैं। प्रथम तो पुरुषार्थ चतुष्टयसिद्धि रूप मानव जीवन के वास्तविक उद्देश्य का प्रतिपादन और द्वितीय अष्टमांगयोग रूप उसका अभ्यास मार्ग, यही चरित्रनिर्माण की वैज्ञानिक पद्धति है।

इस मार्ग पर चलने से मनुष्य के शरीर मन बुद्धि और आत्मा का संशोधन, संस्करण, विकास होता है। मानव जीवन में दिव्यता का प्रवेश होने लगता है अर्थात् वह प्रकृति रूपी तम से ऊपर उठकर पर ब्रह्म ज्योति के पास पहुँचने लगता है। उसका जीवन वाह्य प्रपंच से हट कर अन्त र्मुख हो, सर्व आनन्द ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करता है। इसीलिये इसे 'उपासना मार्ग' कहते हैं।

हमने ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों से उसका क्रम बद्ध वर्णन यहाँ किया है। पाठक आंखें खोलकर पढ़े, शान्ति से मनन करें और दीक्षापारायण हो इस का अनुष्ठान करें।

उपासना शब्द का अर्थ 'समीपस्थ होना' है। अष्टांगयोग से परमात्मा के समीपस्थ होने और उसको सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी रूप से प्रत्यक्ष करने के लिये जो-जो काम करता होता है, वह-वह सब करना चाहिये (स० प्र० ७ स० २४२)।

उनके अनुष्ठान से अविद्यादि दोषों का क्षय होने से तब तक ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि होती है, जब तक जीव यथावत् मोक्ष को प्राप्त नहीं हो जाता (ऋ० भू० ४१३; अ० प्र० ३ स० ४४)।

यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि ये आठ अंग हैं। 'अष्टांग योग' के अनुष्ठान को 'उपासनायोग' भी कहते हैं (स० प्र० ७ स०, २४३; ऋ० भू० ४१३ के अनुसार)।

१. (क:) यम

इन अंगों में से पहिला अंग यम है। यह पांच प्रकार का है:—

अहिंसा—सब प्रकार से सब काल में, सब प्राणियों के साथ वैर छोड़कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। प्रेम प्रीति से वर्तना (स० प्र० २४३, ७ स०)। यह अहिंसा शेष यम और नियमों का मूल है। इसी अहिंसा के ज्ञानार्थ इन यम नियमों का प्रतिपादन किया गया है और इन यमनियमों के अनुष्ठान से अहिंसा का रूप शुद्ध किया जाता है (ऋ० भू० ४१४)।

सत्य—जैसा अपने ज्ञान में हो, वैसा ही सत्य बोलना, करना और मानना (ऋ० भू०)। मिथ्या कभी न बोलना (स० प्र० ७ स०; २४३)।

वाणी के प्रयोग का अर्थ ही यही है कि 'जो अपने = वक्ता मन में हो, वही दूसरे (श्रोता) को मालूम हो।' अत: वाणी को सार्थक बनाने के लिये तीन बातों की ओर ध्यान रखना चाहिये कि वाणी:—

१. वञ्चिता न हो अर्थात् वाणी ऐसी प्रयुक्त करे कि दूसरे को धोखा न हो।

२. भ्रान्ता* न हो अर्थात् वाणी ऐसी प्रयुक्त करे कि भाषण करते समय स्वयं अपने को ही उस विषय में कभी भ्रम हो। क्योंकि स्वयं भ्रान्त हो, अर्थात्, भ्रमात्मक वाणी के प्रयोग से अपना मानसिक विचार दूसरे को यथार्थ समझाया नहीं जा सकता।

३. प्रतिपत्तिवन्ध्या न हो अर्थात् अपने विचार को ऐसी भाषा में न समझावे, जिसे दूसरा समझता ही न हो या निष्प्रयोजन हो। ऐसी वाणी से अपना बोध दूसरे में संक्रांत नहीं किया जा सकता।

तीनों प्रकार की वञ्चिता, भ्रान्ता और प्रतिपत्तिवन्ध्या) भाषा का प्रयोग असत्य की परिभाषा में आता है (ऋ० भू० ४१४)।

अच्छी प्रकार से परीक्षा करके सर्वभूत हितकारी अर्थात् ऐसा सत्य बोलना चाहिये, जो सब भूतों के उपकार के लिये हो। ऐसा सत्य जो सबका उपकार करने के स्थान पर अपकार करता है, वह ऊपर से देखने में पुण्य मालूम होता है; परन्तु वस्तुतः वह होता पाप है (व्य० भानु)।

क्योंकि उसका फल दुःख हैं (ऋ. भू. ४१३-४१५)।

अस्तेय—चोरी न करना, सदा सत्य व्यवहार करना (स० प्र० २४३, ७ समु०)। अर्थात् पदार्थ के स्वामी की अथवा शास्त्रीय नियम की आज्ञा के बिना किसी के पदार्थ की इच्छा भी न करना (ऋ० भू० ४१५)। अर्थात् मन वचन कर्म से चोरी त्याग (स० प्र० ३ स०, ५५)।

ब्रह्मचर्य—विद्या पढ़ने के लिये बाल्यावस्था से लेकर सर्वथा जितेन्द्रिय होना, लम्पट न होना (स० प्र० २४३, ७ समु०); पच्चीसवें वर्ष से लेके अड़तालीस वर्ष पर्यन्त विवाह करना; परस्त्री वेश्या आदि का त्याग; (स्त्री के लिये सोलहवें वर्ष से लेकर उचित समय तक विवाह करना, पर पुरुष से दूर रहना) सदा ऋतुगामी होना और अन्य सब इन्द्रियों पर संयम रखते हुए उपस्थ इन्द्रिय पर सदा संयम रखना (ऋ० भू० ४१५)। व्यभिचार त्याग।

---

*भ्रान्त = वक्ता। भ्रामक = वाणी। भ्रम = दोष।

अपरिग्रह—अत्यन्त लोलुपता और स्वस्वाभिमान रहित होना (स०प्र० ३ स०, ५५)। निरभिमानी होना (स० प्र० ७ समु० २४३) अर्थात् विषयों में अभिनानादि दोषों से रहित होना। क्योंकि इन विषयों के उपार्जन, रक्षण, विनाश, इनमें आसक्ति तथा इनके कारण दूसरे की हिंसा, दूसरे से विरोध (ग्र० क०) होने में विविध प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। अतः उतने ही पदार्थों से सन्तोष करना चाहिये, जितने (के परिग्रह-संग्रह) से इन दोषों के उत्पन्न होने की सम्भावना ही न हो (ऋ० भू० ४१५)।

ये पांच प्रकार के यम मिल के उपासना योग का प्रथम अंग हैं (स० प्र० २४३७ स०); इनका ठीक ठीक अनुष्ठान करने से उपासना का बीज बोया जाता है (ऋ० भू० ४१५)।

२. (क) नियम

इन आठों में से नियम दूसरा अंग है। यह भी पांच प्रकार का है; शौच सन्तोष तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

शौच—पवित्रता। यह दो प्रकार की है; आभ्यन्तर और बाह्य। भीतर की शुद्धि, धर्माचरण, सत्य भाषण, विद्याभ्यास, सत्संग आदि शुभा गुणों के आचरण (ऋ० भू० ४१८) तथा राग द्वेष छोड़ने (स० प्र० २५३ समु० ७) से होती है।

बाहर की पवित्रता, जल आदि के द्वारा शरीर, स्थान, मार्ग, वस्त्र तथा खाने पीने आदि के शुद्ध करने से होती है (ऋ० भू० ४१८)।

परन्तु शरीर शुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि सबको अवश्य करनी चाहिये; क्योंकि यही सर्वोत्तम और परमेश्वर प्राप्ति का एक साधन है। (प० म० वि० ६)।

सन्तोष—सदा धर्मानुष्ठान से अत्यन्त पुरुषार्थ करके प्रसन्न-(सन्तुष्ट-तृप्त, स्थित प्रज्ञा) रहना (ऋ० ग्र० ४१८) अर्थात् धर्मपूर्वक पुरुषार्थ करने से लाभ होने पर न प्रसन्नता-(न फूलना, अभिमान में न भरना) और हानि होने पर

न अप्रसन्नता-(निराश न होना, दिल न छोड़ना) करना। प्रसन्न होकर आलस्य छोड़ कर सदा पुरुषार्थ करते जाना (स० प्र० २४३, ७ स०) और दुःख में शोकातुर न होना (ऋ० भू० ४१२)। सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं। किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके, उतना करना; हानि लाभ में हर्ष व शोक न करना सन्तोष है (स० प्र० ३ स०, ५५)।

तप—सदा दुःख सुख (आदि द्वन्द्वों) का सहन और अधर्म का त्याग कर धर्म का ही अनुष्ठान करना (स० प्र० २४३, ७ समु०) अर्थात् जैसे सोने को अग्नि में तपाकर निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ गुणों के आचरण रूप तप से निर्मल कर लेना (ऋ० भू० ४१८)।

स्वाध्याय—सर्वदा मोक्ष विद्या विषयक वेद शास्त्र का (ऋ० भू०); सत्य शास्त्रों का पढ़ना पढ़ाना (स० प्र० २४३, ७ समु०); सत्पुरुषों के संग से ज्ञान वृद्धि; 'ओ३म्' इस एक परमात्मा के नाम का अर्थ विचार के साथ नित्यप्रति जप करना और ईश्वर का निश्चय करना (स० प्र० २४३, स० ७; ऋ० भू० ४१२)।

ईश्वर प्रणिधान—सब सामर्थ्य, सब गुण, प्राण, आत्मा और मन आदि सत्य द्रव्यों का प्रेमभाव से परमेश्वर की आज्ञानुकूल, उसके लिये समर्पण करना (ऋ० भू० ४१८; उ० प्र० २४३, ७ स०)। ये पांच प्रकार के नियम मिलकर उपासना-योग का दूसरा अंग हैं (स० प्र० २४३; ऋ० भू० ४१८)। और इनका ठीक-ठीक अनुष्ठान करने से उपासाना का बीज अंकुरित होता है (ग्र० क०)।

यमों के अनुष्ठान के बिना केवल इन नियमों का सेवन न करें। किन्तु इन दोनों का सेवन-(अनुष्ठान) करें। जो यमों का सेवन छोड़कर केवल नियमों का सेवन करता है, वह उन्नति को प्राप्त नहीं होता; किन्तु अधोगति को प्राप्त होता है अर्थात् संसार में गिरा रहता है (स० प्र० ३ स०, ५५)। नियम, यमों के सहकारी कारण हैं (ऋ० भू० ४२०)।

ख. यमों के अनुष्ठान का फल*

अहिंसा का फल—जब मनुष्य अहिंसा धर्म में दृढ़ स्थिति पा लेता है, तब उसके मन से तो वैर भाव छूट ही जाता है, किन्तु उसके सामने या उसके संग के अन्य पुरुषों का भी वैर भाव छूट जाता है।

सत्याचरण का फल—जब मनुष्य निश्चयपूर्वक केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है, तब वह जो-जो योग्य काम करता और करना चाहता है, वे सब सफल हो जाते हैं।

अस्तेय का फल—जब मनुष्य अपने शुद्ध मन से चोरी के छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेता है (और आचरण वैसा ही करता है), तब उसको सब उत्तम-उत्तम पदार्थ यथायोग्य प्राप्त होने लगते हैं।

१. ब्रह्मचर्यानुष्ठान का फल—जब कोई मनुष्य बाल्यावस्था में विवाह न करे, उपस्थ इन्द्रिय का संयम रक्खे,

२. वेदादि शास्त्रों को पढ़ता पढ़ाता रहे,

३. विवाह के पीछे भी ऋतुगामी बना रहे और परस्त्री गमन व पर-पुरुषरति आदि व्यभिचार को मन वचन कर्म से त्याग देवे, तब उसका दो प्रकार का वीर्य-(बल) बढ़ता है। एक शरीर का, दूसरा बुद्धि का बल के बढ़ने से मनुष्य-(स्त्री पुरुष ग्र० क०) बहुत आनन्द में रहता है।

अपरिग्रह का फल—जब मनुष्य विषयासक्ति तथा शरीर के ममत्व से बचकर सर्वथा जितेन्द्रिय रहता है, तब 'मैं कौन हूँ; कहाँ से और क्यों आया हूँ; मुझको क्या करना चाहिए, जिससे कल्याण हो ?' आदि शुभ गुणों का विचार उसके मन में स्थिर हो जाता है।

---

* ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० ४१८-४१९

(ख) नियमों के अनुष्ठान का फल*

शौच का फल—शरीर स्वस्थ, स्फूर्तिमान्, निरालस और 'मन बुद्धि चित्त अहंकार' शुद्ध निर्मल विकार रहित हो जाता है (ग्र० क०)। अर्थात् **बाह्यशुचि से**—'योगी जब अपने शरीर और शरीरावयवों को बाहर-भीतर से मलिन पाता है; तब सभी शरीर मल आदि से भरे हैं, इस परीक्षित ज्ञान से वह दूसरे के संसर्ग में घृणा अर्थात् संकोच करके सदा अलग रहता है (ऋ० भू०) इससे वैराग्य भावना दृढ़ होती है (ग्र० क०)। **आन्तरिक शुचि से**—अन्तःकरण की शुद्धि; मन की प्रसन्नता; एकाग्रता; इन्द्रियों का जय और आत्मा के देखने-की योग्यता प्राप्त होती है।

सन्तोष का फल—सन्तोष से जो सुख मिलता है, वही सबसे उत्तम है।

तप का फल—तप से योगी-उपासक का शरीर और इन्द्रियाँ अशुद्धि (=दोष, मल, पापवासना) के क्षय से दृढ़ होके सदा रोगरहित रहती हैं (ऋ० भू०) तथा अभ्यास में दृढ़ता आती है (ग्र० क०)।

स्वाध्याय का फल*—इष्टदेव सर्वान्तर्यामी परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है। फिर उसके अनुग्रह का सहाय, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

ईश्वर प्रणिधान का फल—उपासक मनुष्य सुगमता से समाधि को प्राप्त होता है।

३. आसन

योग के आठ अंगों में से तीसरा आसन है। जिसके द्वारा शरीर और आत्मा की स्थिरता हो तथा सुख-आराम मिले, उसे आसन कहते हैं।

---

* ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ४२०-४२१।

---

*स्वाध्यायशील जिज्ञासु पुरुष को ही 'देव ऋषि सिद्धों' के दर्शन हो सकते हैं। क्योंकि वही इनके सत्संग से ज्ञान पिपासा को शान्त करना चाहता है।

(क) उपासना के समय कुशा या मृगचर्म आदि जो विछाया जाता है, उसे भी आसन कहते हैं। यह आसन ऐसा होना चाहिये, जिस पर देर तक सुखपूर्वक बैठ सकें।

(उ) बैठने की रीति को भी आसन कहते हैं। बैठना भी ऐसी रीति से चाहिये कि जिससे आराम से देर तक बैठ सकें।

आसन पद्मासन आदि के भेद से कई प्रकार के हैं। उपासना के समय पद्मासन आदि को लगाकर बैठना अच्छा है; अथवा जैसी इच्छा हो, उसी आसन से उपासक बैठे (ऋ० भू० ४२६)। यह प्राणायाम की सिद्धि में सहायक है। यम नियमों का तो सदा अनुष्ठान किया जाता है; परन्तु यह मुख्यतया प्राणायाम के समय ही लगाया जाता है। (ग्र० क०) यह उपासना का तीसरा अंग है (ऋ० भू० ४२५)।

आसन का फल—जब आसन दृढ़ होता है, तब उपासना करने में सहायता प्राप्त होती है और सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द बाधा नहीं पहुँचाते (ऋ० भू० ४२५-४२६)।

४. (क) प्राणायाम

अष्टांग योग में चौथा अंग प्राणायाम है।

ज्ञान से श्वास-प्रश्वास के नियमन=रोकने को प्राणायाम कहते हैं। जो वायु बाहर से भीतर को आता है, उसको श्वास और जो भीतर से बाहर जाता है, उसको प्रश्वास कहते हैं (ऋ० भू० ४२७)।

ब्राह्म मुहूर्त में उठ, शौच, दन्तधावन, मुखप्रक्षालन करके स्नान करें। पश्चात् एकान्त स्थल में जाके योगाभ्यास की रीति से परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये। उस समय (स० वि० २१८) दोनों हाथ धो, कान, आँख, नासिका आदि का शुद्ध जल से स्पर्श करके, शुद्ध देश में पवित्रासन पर जिधर की ओर का वायु हो, उधर को मुख करके, (स० वि० २१९) उचित आसन

के सिद्ध होने पर श्वास प्रश्वास के जाने-आने को शनैः-शनः अभ्यास से रोके (ऋ० भू० ४२७)।

अंगुली और अंगुष्ठ से नासिका के छिद्र को वन्द करके जो प्राणायाम करते हैं, वे अल्पज्ञ हैं। बुद्धिमान् पुरुषों को इस प्रकार से प्राणायाम नहीं करना चाहिये (ऋ० भू० ४२७; स० वि० २१६)।

प्रारम्भ करते समय नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय को ऊपर संकोच करके (स० वि० २१६) जैसे अत्यन्त वेग से नमन होकर अन्न, जल वाहर निकल जाता है, वैसे प्राण(=हृदय के वायु, स० वि० २१६) को बल से बाहर फेंक के यथाशक्ति वाहर ही (स० वि० ११) रोके तव तक मूत्रेन्द्रिय को ऊपर खींच रक्खे, जब तक प्राण बाहर रहता है। इसी प्रकार प्राण बाहर अधिक ठहर सकता है (स० प्र० ३ स०, ४४)।

पुनः जब घबराहट हो तब वायु को धीरे-धीरे भीतर लेके (स० प्र० ४५, स० वि०, प० म० वि०), भीतर थोड़ा सा रोके यह एक प्राणायाम हुआ। इसी प्रकार कम से कम तीन प्राणायाम करे (स० वि० २१६)। जितना सामर्थ्य और इच्छा हो, वैसे ही करता जाय (स० प्र० ४५, ३ स०)।

प्राणायाम करते समय मन में 'ओ३म्' इसका जप करता जाय। इस प्रकार करने से आत्मा और मन की पवित्रता स्थिर होती है (स० प्र० ४५, ३ स०)। मन और आत्मा को स्थिर करके आत्मा के बीच में जो अन्तर्यामी रूप से ज्ञान स्वरूप और आनन्द स्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आप को मग्न करके अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। जैसे गोताखोर जल में डुबकी मार के शुद्ध होके वाहर आता है, वैसे ही सब जीव लोग अपने आत्माओं को शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप व्यापक परमेश्वर में मग्न करके नित्य शुद्ध करें (प० भ० वि० ११)।

क्योंकि जैसे अग्नि में तपाने और गलाने से सुवर्ण आदि धातुओं के मल नष्ट हो धातु शुद्ध हो जाते हैं, वैसे ही प्राणों के निग्रह अर्थात् प्राणायाम से मन आदि इन्द्रियों के दोष भस्मीभूत (=क्षीण) होकर मन इन्द्रिय निर्मल हो जाते हैं (स० प्र० ३ स० ४४; ४ स० १६४)।

स्त्री भी इसी प्रकार योगाभ्यास करें (स० प्र० ३ स०, ४५)।

संन्यासी को उचित है कि ओंकारपूर्वक सप्तव्याहृतियों से विधिपूर्वक प्राणायाम जितनी शक्ति हो, उतने करे। परन्तु तीन से न्यून प्राणायाम कभी न करे।

(ख) प्राणायाम के प्रकार

यह प्राणायाम चार प्रकार का होता है।

बाह्यविषय—जब भीतर से बाहर को श्वास निकल जावे, तब उसको बाहर ही अधिक रोकना (ऋ० भू० ४२७; स० प्र० ३ स०, ४५)। इसको प्रथम प्राणायाम कहते हैं।

आभ्यन्तरविषय—पुनः जब बाहर से श्वास भीतर को आवे; तब उसको जितना रोक सके, उतना भीतर ही रोकना (ऋ० भू० ४२७; स० प्र० ३ स० ४५)। इसको द्वितीय प्राणायाम कहते हैं।

स्तम्भवृत्ति—एक ही बार जहाँ का तहाँ प्राण को यथाशक्ति रोक देना (स० प्र० ४५) अर्थात् न प्राण को बाहर निकाले, न बाहर से भीतर ले जाये; किन्तु जितनी देर सुख से हो सके, उसको जहाँ का तहाँ, ज्यों का त्यों, एकदम रोक देना (ऋ० भू० ४२७)। इसको तृतीय प्राणायाम कहते हैं।

बाह्याभ्यन्तराक्षेपी—जब श्वास भीतर से बाहर को जावे, तब बाहर से ही कुछ-कुछ रोकना और जब बाहर से भीतर आवे, तब उसको भीतर से ही थोड़ा-थोड़ा रोकना (ऋ० भू० ४२८) अर्थात् जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे, तब न निकलने देने के लिये उससे विरुद्ध श्वास बाहर से भीतर लेना और इसी प्रकार जब प्राण बाहर से भीतर आने लगे, तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोक लेना। ऐसे एक दूसरे के विरुद्ध क्रिया करने से श्वास प्रश्वास दोनों की गति रुक कर प्राण अपने वश में हो जाते हैं (स० प्र० ३ स०, ४५)। इसको चतुर्थ प्राणायाम कहते हैं।

तृतीय और चतुर्थ प्रकार के प्राणायाम में यह भेद है कि तृतीय 'स्तम्भ-वृत्ति' प्राणायाम 'बाह्यविषय' और 'आभ्यन्तर विषय' प्राणायाम के अभ्यास की अपेक्षा नहीं करता; परन्तु चतुर्थ 'बाह्याभ्यन्तराक्षेपी' प्राणायाम 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' प्राणायाम के अभ्यास की अपेक्षा करता है (ऋ० भू० ४२८)।

(ग) प्राणायाम का फल

इन चारों का अनुष्ठान इसलिये विदित है कि इनसे चित्त निर्मल होकर उपासना में स्थिर होता है (ऋ० भू० ४२८) अर्थात् प्राणद्वार से उस परमात्मा को प्राप्त होके आनन्दित हो जाते हैं (स० प्र० ५ स० १५७)।

१. इस प्रकार प्राणायाम पूर्वक उपासना करने से 'आत्मा के ज्ञान को ढांकने वाले' अज्ञान का जो आवरण है, वह नित्य-प्रति नष्ट होता जाता है और ज्ञान का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है (ऋ० भू० ४३१)।

२. उस प्राणायाम के अनुष्ठान के अभ्यास से यह फल भी होता है कि उपासक के मन में ब्रह्म में ध्यान लगाने की योग्यता बढ़ती जाती है (ऋ० भू० ४३१)।

३. प्राणायाम से लाभ का क्रम इस प्रकार है कि (भू० क०) श्वास-प्रश्वास दोनों की गति रुककर प्राण अपने देश में होने से, मन और इन्द्रिय भी स्वाधीन होते हैं। मन इन्द्रिय वश में होने से बलपुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्मरूप हो जाती है, जो फिर बहुत कठिन और सूक्ष्म विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है।

इस प्रकार इससे मनुष्य शरीर में वीर्य वृद्धि को प्राप्त होकर स्थिर बल, पराक्रम, जितेन्द्रियता बढ़ेगी और फिर वह सब शास्त्रों को थोड़े ही समय में समझ कर उपस्थित (=स्मरण) कर लेगा। (स० प्र० ३ स०, ४५)।

यह प्राणायाम उपासनायोग का चौथा अंग है।

५. (क) प्रत्याहार

अष्टांगयोग में पांचवां अंग प्रत्याहार है।

जब पुरुष अपने मन को जीत लेता है अर्थात् परमेश्वर के स्मरण को

छोड़ कर उसका मन अन्य किसी विषय की ओर नहीं जाता, तब इन्द्रियों वशीकरण अपने आप हो जाता है; क्योंकि मन ही इन्द्रियों को चलाने वाला है (ऋ० भू० ४३१)।

प्रत्याहार का फल

तब मनुष्य जितेन्द्रिय होकर, अपने मन को जहाँ ठहराना व चलाना चाहता है, उसी में ठहरा व चला सकता है। ईश्वरोपासना में प्रवृत्त होने पर चित्त और इन्द्रियाँ वश में रहती हैं (ऋ० भू० ४३१)।

यह प्रत्याहार उपासनायोग का पांचवां अंग है।

६. धारणा

अष्टांग योग में छठा अंग धारणा है। उपासनायोग के पूर्वोक्त पांचों अंग सिद्ध हो जाने पर यह अंग धारणा भी यथावत् प्राप्त है, सिद्ध होता है।

मन को चंचलता से छुड़ाकर नाभि, हृदय, नासिका और जीभ के अग्रभाग (अथवा भ्रूमध्य ग्र० क०) आदि देशों में स्थिर करके ओंकार का जप और उसका अर्थ जो परमेश्वर है, उसका विचार करना ही धारणा है (ऋ० भू० ४३२)।

यह धारणा उपासना योग का छठा अंग है।

७. ध्यान

अष्टांगयोग में सातवाँ अंग 'ध्यान' है। यह धारणा के यथावत् सिद्ध हो जाने पर ही साध्य होता है।

धारणा के पीछे जिस देश में मन को स्थिर किया हो उसी देश में 'ध्यान करने योग्य' और 'आश्रय लेने योग्य' जो अन्तर्यामी व्यापक परमेश्वर है, उसके प्रकाश और आनन्द में अत्यन्त विचार और प्रेम भक्ति के साथ इस प्रकार प्रवेश करना कि जैसे समुद्र के बीच में नदी प्रवेश करती

है। उस समय ईश्वर को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ का स्मरण न करना, किन्तु उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में मग्न हो जाने का नाम ध्यान है (ऋ० भू० ४३२)।

यह ध्यान उपासनायोग का सातवां अंग है।

८. समाधि

इन सात अंगों का फल समाधि है, जो कि अष्टांग योग में आठवाँ और अन्तिम अंग है।

जैसे अग्नि के बीच में लोहा भी अग्निरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर के ज्ञान में प्रकाशयुत होके, अपने शरीर को भी भूले हुए के समान जानके, अपने आत्मा को परमेश्वर के प्रकाश स्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण करने को समाधि कहते हैं। ध्यान और समाधि में भेद—यह है कि 'ध्यान' में तो वस्तु का ध्याता (=उपासक, साधक), जिस मन से जिस वस्तु का ध्यान करता है, इन तीनो (ध्यान, ध्याता, ध्येय) को भिन्न-भिन्न प्रतीति होती है। परन्तु 'समाधि' में केवल परमेश्वर ही के आनन्द स्वरूप तथा ज्ञान में आत्मा ऐसे मग्न हो जाता है कि मानों जैसे वहाँ तीनों (जीव, ब्रह्म और ध्यान दशा) भिन्न प्रतीत ही न होते हों।

जैसे मनुष्य जल में डुबकी मारकर थोड़ा समय भीतर ही रुका रहता है, वैसे ही जीवात्मा परमेश्वर के बीच में मग्न होकर फिर बाहर को आता है (ऋ० भू० ४३३)।

यह समाधि उपासनायोग का आठवां अंग है।

(ख) संयम

'धारणा, ध्यान तथा समाधि' इन तीनों की सम्मिलित शास्त्रीय परिभाषा 'संयम' है। जिस देश में धारणा की जाय, उसी में ध्यान और उसी देश में समाधि लगती है। इस प्रकार ध्यान करने योग्य (=ध्येय) परमेश्वर में (विस्तृत मा हो) मग्न हो जाने को संयम कहते हैं।

जब एक ही काल में तीनों का मेल होता है, अर्थात् धारणा से संयुक्त ध्यान, ध्यान से संयुक्त समाधि होती है; सब उनमें काल का वहुत सूक्ष्म भेद रहता है। परन्तु जब समाधि होती है, तब आनन्द के बीच में तीनों का मेल ही होता है (ऋ० भू० ४३३)।

[इस प्रकार उपासक अथवा ग्र० क०] सन्यासी लोग नित्य प्रति प्राणायामों से आत्मा अन्तःकरण और इन्द्रियों के दोष, धारणाओं से पाप, प्रत्याहार से संग दोष [अर्थात् इन्द्रियों के विषयों का त्याग ग्र० क०], ध्यान से अनीश्वर के गुणों अर्थात् हर्ष शोक और अविद्यादि जीव के दोषों को भस्मी भूत करें। (स० प्र० ४ स०, १६४)। इसी ध्यान योग से·········छोटे बड़े पदार्थों में परमात्मा की व्याप्ति को और और अपने आत्मा में अन्तर्यामी परमेश्वर की गति को देखें (स० प्र० ५ स०, १६४) जब [उपासक या] सन्यासी सब भावों में अर्थात् पदार्थों में निस्पृहकांक्षा रहित और सब बाहर भीतर के व्यवहारों में भाव से पवित्र है, तभी इस देह में और मरण पाके निरन्तर सुख को प्राप्त होता है।·········इसी प्रकार धीरे-धीरे सब अंग दोषों को छोड़ हर्ष शोकादि सब द्वन्द्वों से विमुक्त हो कर समाधि द्वारा वह ब्रह्म ही में अवस्थित होता है (स० प्र० ५ स०, १६५-१६६)।

जो मनुष्य एकान्त पवित्र निरुपद्रव देश में स्थिर होकर वेदादि उपासना के सब अंगों का अभ्यास करते हैं, वे निर्मल आत्मा होकर ज्ञानी श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं और जो इनका संग और सेवा करते हैं, वे भी शुद्ध अन्तः करण हो के आत्मयोग के जानने के अधिकारी होते हैं। ऋ० भू० १०३६।१-४८-४।

यह चरित्र निर्माण का वास्तविक मार्ग है। सच्चरित्र मनुष्य का लक्षण क्या है? "वह 'उपकारी पर दुःखहर्त्ता, पक्षपात रहित न्यायाचरण कर्त्ता, सत्यमानी सत्यवक्ता, आस्तिक·········।" इसी का नाम ऋषि ने 'आप्त धार्मिक विद्वान् होना' लिखा है। इस मार्ग पर आचरण करने वाला ऐसा ही बनेगा। दुःख और आश्चर्य है कि आर्यजन भी इस मार्ग को 'वृद्धों या संन्यासी वानप्रस्थों का मार्ग स मझते हैं अन्यथा 'उपदेशकों प्रचारकों के पालने का ही

कुछ ऐसे हैं, जो इन्हें 'गुरुकुलों' के लिये पेटेण्ट समझते हैं और क्योंकि उनकी दृष्टि में गुरुकुली 'वेवकूफ बुद्धू भोले अव्यवहारी' होते हैं; इसलिये वे अपने बच्चों को इस 'वेवकूफाश्रमों' से दूर रखकर, समझ के ट्रेनिंग स्थान 'कालिजों' में भेजते हैं। गुरुकुल वाले भी भविष्य में रोटी के मार्ग के अन्वेषण में हैं; सो अष्टांगयोग मार्ग का दरवाजा वहाँ भी बन्द है।

परन्तु ऋषिदयानन्द तो हमें इसी मार्ग के अनुष्ठान का उपदेश कर गये। इस पर आचरण करने से (१) शारीरिक उन्नति होगी। क्योंकि ब्रह्मचर्य प्राणायाम आसन और समाधि से शरीर में वीर्य की समुचित वृद्धि होगी। शरीर स्वस्थ बनने से स्फूर्ति प्रसन्नता उत्साह बढ़ेगी।

बौद्धिक उन्नति होगी। क्योंकि ब्रह्मचर्य से बुद्धि विकसित होती है। वेदाध्ययन से सज्ज्ञान वृद्धि होगी। अज्ञान नष्ट होगा। दुर्बुद्धि, दुरभिप्राय, दुरुद्देश्य सब समाप्त हो जावेंगे। विवेक बढ़ने से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का बोध होगा।

३. **अन्तः करण शुद्धि होगी**। यम, नियम, प्रत्याहार आदि से सात्विक भावों का उदय होगा। जीवन में सचाई उतरेगी, न्यायाचरण बढ़ेगा। स्वार्थ घटेगा। मनुष्य बाह्यमुख न हो अन्तर्मुख होगा। परिणामतः 'काम क्रोध लोभ मोह' की प्रवृत्तियां घट जावेंगी। वह निवृत्ति मार्ग का पथिक बनेगा।

४. **आत्म विकास** होगा। धारणा, ध्यान, समाधि से उसके आत्मा में अन्तर्ज्योति का प्रकाश फैलेगा।

जब इस प्रकार व्यक्ति 'शरीर बुद्धि मन आत्मा' से शुद्ध होगा, तो 'सामाजिक जीवन' स्वतः ही शुद्ध-पुनीत-निर्मल होगा। इस प्रकार 'वैयक्तिक' चरित्र और 'सामाजिक चरित्र' का निर्माण होगा।

इस मार्ग के आचरण से ही मनुष्य 'सकल भद्र मश्नुते'। भद्र अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस सुख की प्राप्ति' (ऋ० भा० भू० ६) कर सकता है।

समाप्त

ज्ञान-वर्द्धक वैदिक साहित्य

चारों वेदों का सम्पूर्ण हिन्दी-भाष्य
पं० जयदेव विद्यालङ्कार कृत ११२.००

दर्शन शास्त्र

न्याय दर्शन	२.५०
वैशेषिक दर्शन	३.५०
सांख्य दर्शन	२.००
वेदान्त दर्शन	३.५०
योग दर्शन	१.५०
मीमांसा दर्शन	५.००
दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह (पूर्वार्द्ध)	२.५०
,, ,, (उत्तरार्द्ध)	२.५०
भक्तियोग	२.००
कर्मयोग	२.००

उपनिषद्

उपनिषद् प्रकाश	६.००
उपनिषद् आर्य भाष्य	६.००

आर्य साहित्य

सत्यार्थप्रकाश (स्थूलाक्षर)	१२.००
,, (अजिल्द)	२.००
संस्कार-विधि	१.२५
उपदेश मंजरी	२.५०
नित्य कर्म विधि	०.२५
आर्याभिविनय	०.५०
व्यवहार भानु	०.२५
श्रीमद्दयानन्द-प्रकाश	१२.००
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	२.५०
सन्मार्ग दर्शन	४.००
मित्रों की बातें	१.२५
तत्त्व ज्ञान	३.००
प्रभु दर्शन	२.५०
प्रभु भक्ति	१.५०
आनन्द गायत्री कथा	०.७०
एक ही रास्ता	०.८०
शंकर और दयानन्द	०.५०
भक्त और भगवान्	१.००
मानव जीवन गाथा	१.००
घोर घने जंगल में	२.००
कर्तव्य दर्पण	१.२५
आर्यसमाज क्या है	०.७५
मृत्यु और परलोक	१.२५

जीवनोपयोगी साहित्य

आत्म-विकास	५.००
मनुष्य का विराट रूप	४.५०
सुख और सफलता के साधन	२.००
सफलता के आठ साधन	२.००
जैसा चाहो वैसा बनो	२.००
सफल कैसे हों ?	२.००
अपनी उन्नति आप कीजिए	२.००
सफलता का रहस्य	३.००
आसनों के व्यायाम (सचित्र)	०.५०
आर्य सिद्धान्त दीप	१.२५
आप क्या नहीं कर करते	२.२५
हँसते-हँसते कैसे जिएँ ?	२.२५
इच्छा शक्ति कैसे बढ़ायें ?	२.२५
क्यों बचायें, कैसे बचायें ?	३.००

वैदिक साहित्य को पुस्तकें मँगाने का पता

सदा स्मरण रखें

मधुर प्रकाशन

आर्यसमाज मन्दिर, बाजार सीताराम, दिल्ली—६

अधिक से अधिक मंगाएँ

A Challenge to the Christian Faith.

मूल्य १५ पैसे ५०) हजार

Christianity unmaskcd. मूल्य १५ पैसे १७५) हजार

The Christian Love ? मूल्य १५ पैसे ५०) हजार

The Conflict Between Science and Christianity. मूल्य २५ पैसे १२) सैकड़ा १००) हजार

ईसाई मत की वास्तविकता मुल्य १० पैसे । ३५) हजार

पादरियों को चुनौती मूल्य १० पैसे । ५) सैकड़ा । ३५) हजार

ईसाइयों की प्रचार प्रणाली

मूल्य १० पैसे । ५) सैकड़ा । ३५) हजार

पादरियों से ३६ प्रश्न मूल्य ५ पैसे । २०) हजार । १२) के ५०० ।
८) के २५०

सत्यार्थप्रकाश का तेरहवाँ समुल्लास मूल्य ३० पैसे । १५) सैकड़ा

सत्यार्थप्रकाश सार (कपड़े की बढ़िया जिल्द) पृष्ठ ४०० मूल्य ३)

अवैदिक मत खंडन अङ्क पृष्ठ २०० मूल्य ७० पैसे

जीवन-ज्योति पृष्ठ ३०० (सुनहरी जिल्द) मूल्य ३)

आर्यसमाज अङ्क (प्रचारार्थ पृष्ठ ७२) मूल्य २० पैसे

महाशय कृष्ण अङ्क पृष्ठ १०० मूल्य ५० पैसे

स्वाध्याय अङ्क पृष्ठ २०० मूल्य १)

व्यवस्थापक—'आर्योदय', १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, जालंधर द्वारा

प्रकाशित साहित्य

१—कुलियात आर्य मुसाफिर (हिन्दी अनुवाद पं० लेखराम) ६-००
२—स्वतन्त्रानन्द लेखमाला (स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के लेखों का संग्रह) १-२५
३—आत्मानन्द लेखमाला (स्वामी आत्मानन्द जी के लेखों का संग्रह) १-२५
४—वैदिक सत्संग पद्धति (सन्ध्या हवन, प्रार्थना अर्थ सहित) ०-४०
५—धर्मवीर पं० लेखराम जीवन चरित्र (लेखक स्वामी श्रद्धानन्द) १-२५
६—आर्यसमाज क्या मानता है (ट्रैक्ट) ०-१२ (८ रु० सैकड़ा)
७—बलिदान जयन्ती स्मृति ग्रन्थ (आर्य शहीदों की जीवनी) ४-५०
८—उर्दू सत्यार्थ प्रकाश (अनु० पं० चमूपति जी एम० ए०) ३-५०
९—वेदों का यथार्थ स्वरूप (वेदों पर किए गए आक्षेपों का उत्तर) ६-५०
१०—बुद्ध एण्ड दयानन्द (अंग्रेजी संस्करण) लेखक पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय २-००
११—आर्यसमाज के प्रवेश-पत्र १-२५ सैंकड़ा
१२—प्रिंसिपल आफ आर्यसमाज (अंग्रेजी संस्करण) ले० चमूपति जी एम० ए० १-५०
१३—नीहारिकावाद और उपनिषद, ले० चमूपति जी एम० ए० १-२५
१४—पंजाब का आर्यसमाज (ले० प्रिंसिपल रामचन्द्र जावेद एम० ए० २-००
१५—सुशीला गीत शतक (सभी प्रकार के गीतों का अनुपम संग्रह) १-००
१६—विश्व को आर्यसमाज का संदेश (ले० पं० भारतेन्द्रनाथ साहित्यलंकार) ०-१० । ८) सैकड़ा
१७—आर्य नेताओं के वचनामृत (ट्रैक्ट) पं० साईंदास भंडारी ०-१२१ रु० सैंकड़ा
१८—जीवन ज्योति ले०—पं० चमूपति जी, एम० ए० (सामवेद के ११४ मन्त्रों की व्याख्या) ३—००

प्रकाशन विभाग

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, गुरुदत्त भवन जालंधर

श्री मदन मोहन विद्यासागर कृत स्वाध्याययोग्य अन्य उत्तम ग्रन्थ

१. जनकल्याण का मूलमंत्र (गायत्री मंत्र व्याख्या।) —पचास पैसे

२. संस्कार महत्त्व (संक्षेप में षोडश संस्कारों की व्याख्या।) —साठ पैसे

३. वेदों की अन्तः साक्षि का महत्त्व (वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं आदि विषयों पर प्रामाणिक विचार)। - साठ पैसे

४. आर्य स्तोत्र (आर्यों के लिये प्रतिदिन पारायण करने योग्य स्तोत्र)। --पचास पैसे

६. आर्य सिद्धान्त प्रदीप (ऋषिदयानन्द अम्भत आर्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचक ग्रन्थ) —एक सौ पचोस पैसे

७. आर्य सिद्धान्त मुक्तावली (इसमें ऋषि दयानन्द प्रतिदिन सब सिद्धान्तों से दार्शनिक लक्ष्य संगृहीत है)। --एक सौ पचीस पैसे

८. आर्यसमाज क्या चाहता है ? —मूल्य १० पैसे

प्राप्ति स्थान—

मदनमोहन विद्यासागर

प्रेम मन्दिर नारायण गुड़ा हैदराबाद (आंध्र)

आप अपनी औषधियाँ

गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी से ही क्यों खरीदें ?

क्योंकि—

● गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी विशुद्ध आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण शास्त्रोक्त ढंग से तथा सर्वश्रेष्ठ उपादानों द्वारा करती है।

●● गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी की आय किसी व्यक्ति की जेब में नहीं जाती, वरन् आपके बच्चों की शिक्षा आदि पर व्यय होती है।

●●● गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी द्वारा निर्मित औषधि क्रय करने पर आप जहाँ निश्चय ही श्रेष्ठ औषधि प्राप्त करते हैं साथ ही आपकी जेब से निकला एक-एक पैसा राष्ट्र के निर्माण तथा जनता की सेवा में खर्च होता है।

इसलिए आप अपनी आयुर्वेदिक औषधियों तथा तेल आदि सम्बन्धी किसी भी खरीद के लिए गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी (हरिद्वार) का नाम अवश्य ही याद रखें।

आपका सन्तोष हमारा उद्देश्य है।

नोट—१. किसी भी रोगी के सम्बन्ध में पत्र द्वारा या मिलकर सम्मति प्राप्त करें।

२. गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी की औषधियाँ बेचने के लिये नियम मुफ्त मंगावें।

गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी (हरिद्वार)

ये गोलियाँ शिलाजीत, गुग्गुल, लोह, भस्म, वंशलोचन आदि से बनाई जाती हैं । यह उत्तम रसायन है । शरीर को स्वस्थ तथा बलवान् बनाती है और बहुत से रोगों में लाभप्रद है । यह शरीर के धारक तत्वों के निकलने को रोकती हैं तथा पथरी, भगन्दर, दर्द गुर्दा, जिगर की निर्बलता, रक्त की कमी और अर्श के लिए विशेष तौर पर लाभदायक है । बच्चे, बूढ़े, जवान स्त्री व पुरुष सब शौक से इस्तेमाल कर सकते हैं ।

शक्ति के लिये चन्द्रप्रभा वटी

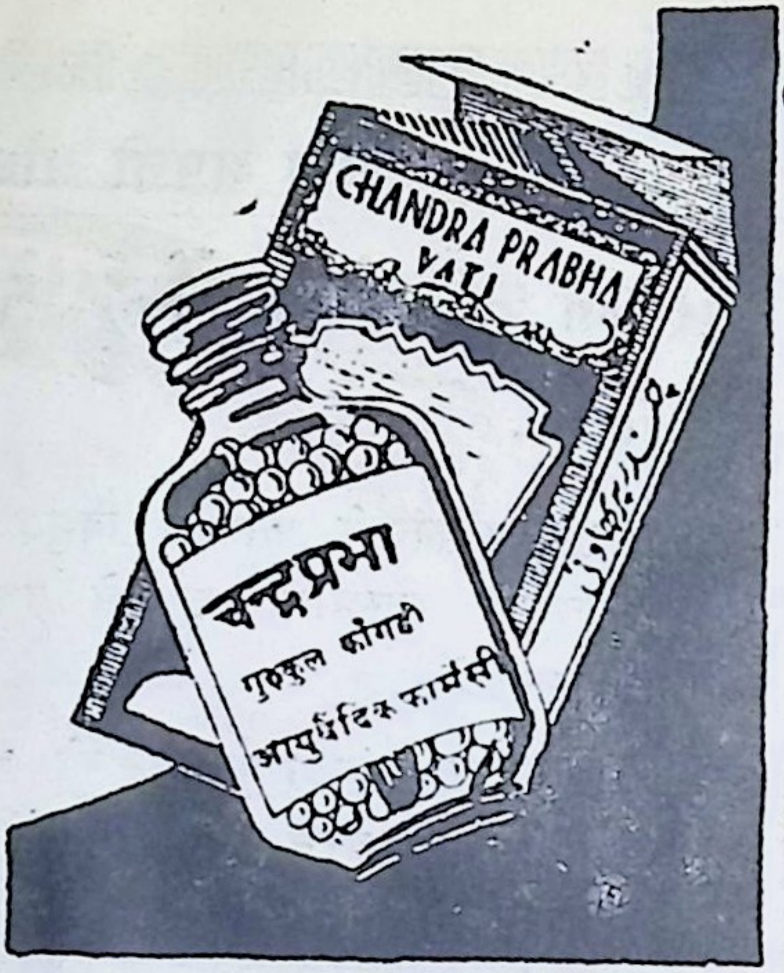

खांसी, जुकाम, इन्फ्लूएन्जा, अपचन तथा थकान आदि में
गुरुकुल कांगड़ी
चाय
गुरुकुल कांगड़ी चाय
आप के स्वास्थ्य की रक्षा करती है।
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी हरिद्वार
ॐ
C.Has.
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी-हरिद्वार

पायोकिल
दाँतों और मसूड़ों के
लिये श्रेष्ठ दन्त मंजन
शक्ति एवं स्फूर्ति-
दायक सुमधुर पेय
गुरुकुल
द्राक्षासव
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार

आँखों को निरोग रखने के लिये
Bhimseni Surma
भीमसेनी सुरमा
भीमसेनी सुरमा
गुरुकुल काँगड़ी, फार्मेसी, हरद्वार

गुरुकुल कांगड़ी
ब्राह्मी तैल
केश प्रसाधन के लिये श्रेष्ठ
मस्तिष्क को ठण्डक एवं
आंखों को तरावट पहुंचाता
है।
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी [हरिद्वार]

शीघ्र आदेश भेजिए

छप गया ! सर्वश्रेष्ठ सुन्दर !!

सत्यार्थ प्रकाश

पण्डित भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित सत्यार्थप्रकाश (मोटे अक्षर) का आर्य जगत् ने अपूर्व स्वागत किया। सभी आर्य नेताओं और विद्वानों ने उसकी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की।

उसी स्थूलाक्षरी सत्यार्थप्रकाश को पूर्णरूपेण शुद्ध करके बड़ी सावधानता से छपवाया जा रहा है।

इस संस्करण की विशेषताएँ

(१) महर्षि की हस्तलिखित प्रति से मिलान किया गया है।

(२) वाक्य समूहों (पैराग्राफों) पर क्रमाङ्क।

(३) प्रत्येक पृष्ठ पर उसी पृष्ठ पर आ रहे विषय का उल्लेख।

(४) बढ़िया कागज, मोती सी सुन्दर छपाई।

(५) ऐसे टाइप में आज तक नहीं छपा।

लगभग ८०० पृष्ठ के मोटे ग्रंथ का मूल्य केवल ३) रुपये। अपने आर्डर भेज कर अपनी प्रतियां सुरक्षित करा लें।

गोविन्दराम हासानन्द, ४४०८ नई सड़क, दिल्ली-६

मुद्रक तथा प्रकाशक श्री शिवकुमार शास्त्री द्वारा सम्राट् प्रेस, पहाड़ी धीरज देहली से छपवा कर आर्योदय कार्यालय १५ हनुमान रोड, नई दिल्ली-१ से प्रकाशित

हिमालय के हरे
आँवलों से निर्मित,
विटामिन 'सी' तथा
लोह से भरपूर
गुरुकुल
काँगड़ी
का
च्यवन प्राश
च्यवन प्राश
गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी हरिद्वार
शक्ति संचय के
लिए आज से
ही सेवन करें
PAULS
गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी, हरिद्वार.

फोन नं० ४४६१७

रजि० नं० डी १३६

DELITE

सर्वश्रेष्ठ क्वालिटी का स्टील फ़र्नीचर

आपके घर व कार्यालय की शोभा बढ़ाता है

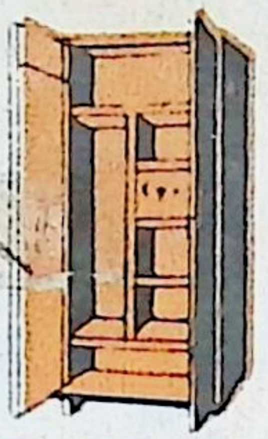

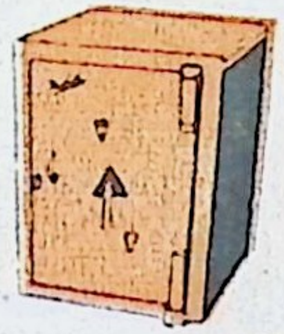

उत्तम क्वालिटी के आयरन सेफ़,
स्टील की हर साइज़ की अलमारियां,
कैश बाक्स, सोफ़ा कम बैड व
बढ़िया सोफ़ा सैट, कुर्सी, मेज़, आदि

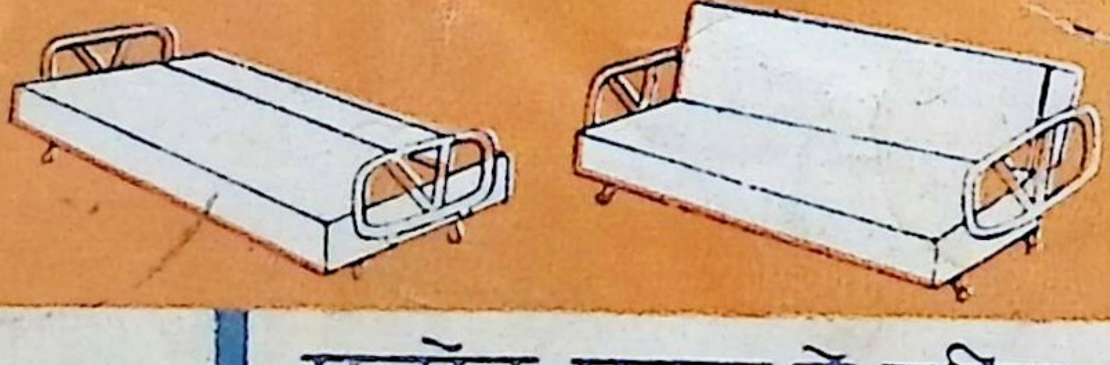

प्रत्येक प्रकार के स्टील व
लकड़ी के फ़र्नीचर के निर्माता

डिलाइट सेफ़ वर्क्स

कुतुब रोड, दिल्ली-६